शब्द-शक्ति

शब्द-शक्ति

(आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश पर आधारित)

लेखक
डा० पुरुषोत्तम दास अग्रवाल
हिन्दी व्याख्याता
पी० जी०, डी० ए० वी कॉलेज
पहाड़गंज, नई दिल्ली

भूमिका
डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
पूना विश्वविद्यालय, पूना–७

रोशनलाल जैन एण्ड संस
बोरडी का रास्ता, जयपुर–३

प्रकाशक
सुशील बोहरा
बोहरा प्रकाशन
चौरड़ों का रास्ता,
जयपुर-३

आवरणकार
श्री प्रेमचन्द गोस्वामी

प्रथम संस्करण १९७०
मूल्य १३.०० रुपये

मुद्रक
मुन्शीलाल गुप्ता
स्वदेश प्रिंटर्स,
तेलीपाड़ा, जयपुर-३

भूमिका

शब्द-शक्ति का ज्ञान जैसा काव्यार्थ बोध के लिए आवश्यक है वैसा ही काव्यास्वाद के लिये भी है। शब्दार्थ बोध के बिना वाणी के रहस्य का उद्घाटन नहीं होता, कवयिता के उद्देश्य की पकड़ और तदनुकूल पाठक की मनोगति संभव नहीं होती। किन्तु निरन्तर नवीन पथों पर सञ्चरित होती हुई कवि-भारती के स्वतन्त्र व्यापार को किसी जड़ [illegible] क्रिया से नहीं समझा जा सकता, किसी निश्चित अर्थ की उपासना से यह प्रयत्न अर्थवान नहीं होता। ऊपर से सरल और नितान्त ऋजु दिखाई देने वाले शब्द अथवा प्रत्यक्षतः विसंगत जान पड़ने वाले कथन जिस भणिति भंगी के कारण अपने अर्थ में वैचित्र्य के उपस्थिति कारक बन जाते हैं, उसका समझना अगम्य भले ही न हो सहज साध्य अवश्य ही नहीं है। दैनन्दिन व्यवहार में भी कथन भङ्गिमा का यह वैचित्र्य निरन्तर बना रहता है, परन्तु वहाँ अतिपरिचयात् अवज्ञा की संभावना ही अधिक रहती है। काव्यादि की भूमि पर वही भङ्गिमा एक नये वातावरण का सृजन करने में केवल सफल ही नहीं होती, निगूढ़ता का बाना भी धारण कर लेती है, अर्थ के अनेक द्वार खुल पड़ते हैं, जिनमें जितना ही गहरे पैठा जाय उतना ही सघन आनन्द भी आता है। शब्द की ससंग एवं संगतिजन्य इन अर्थच्छवियों को पकड़ पाना सभी पाठकों के वश की बात नहीं, उसके लिए अभ्यस्त विशेषतः शिक्षित और हृदय संवेदन क्षम कुशल पाठक की आवश्यकता होती है। अर्थ-संस्कार की इन दिशाओं का परिचय भावुक को सहज लभ्य होता है और भावक को इसके लिए अभ्यास और शिक्षा की शरण लेनी पड़ती है। शास्त्र इसी भावक का सहारा देता है इसी के लिए शब्दार्थ का ज्ञान कराते हुए शास्त्र में शब्दशक्ति का विवेचन किया जाता है। रसोद्गार हो या अलङ्करण सरलोक्ति हो या वक्रोक्ति सर्वत्र शब्दशक्ति ही मूलस्थित दिखाई देती है। अतः काव्यादि की सूझबूझ के लिए इसका ज्ञान अपरिहार्य है। यही जानकर ध्वनिकार ने इसका सहारा लिया है और शास्त्रकारों के लिए भी यह अनिवार्य विवेच्य विषय सिद्ध हुआ है।

काव्यशास्त्र के इतिहास में सूत्रकर्ता के रूप में भले ही न हो, विवेच्य विषयों को सारग्राहिणी प्रतिभा के बल पर नितांत सयोजित और सुश्लिष्ट पद्धति से उपस्थित करने वाले मार्मिक शास्त्रकर्ता के रूप में आचार्य मम्मट का महत्व सदैव अक्षुण्ण रहा है। सारगर्भ और बहुमुखी प्रतिभापूर्ण लेखक के कारण ही आचार्य मम्मट ने अपने इस ग्रंथ में सूत्रों का सहारा ही नहीं लिया है, अपितु सारे विवेचन को सूत्रबद्ध भी रखा है। जिस प्रकार उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भरत, भामह, वामन, रुद्रट, दण्डी, आनन्दवर्द्धन आदि के चिन्तन से प्रेरणा ग्रहण की है उसी प्रकार ध्वनि एवं व्यंजना विरोधी कुमारिल भट्ट प्रभाकर भट्ट धनञ्जय धनिक, महिम भट्ट मुकुल भट्ट तथा भट्ट लोल्लट आदि के विचारों का खण्डन भी किया है। आचार्य मम्मट की प्रतिभा जहाँ सूत्र-लेखन में उन्हें भरत के समीप बठाती है वहाँ कुन्तक, क्षेमेन्द्र एवं भोज आदि का मूल्यांकन करने में सक्षम भी प्रमाणित करती है। वस्तुतः शास्त्र विवेचन में उनकी दक्षता ने, विशेषतः ध्वनि-सिद्धांत के उनके गम्भीर विवेचन ने ही उन्हें "ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य" का सम्मान दिलाया है। साथ ही, मम्मट की एक भारी विशेषता है उनकी विस्तृत अध्ययन-क्षमता जिसकी सराहना होनी चाहिए। विस्तृत-अध्ययन के कारण ही उन्होंने दर्शनों की विभिन्न शाखाओं तथा व्याकरण का ज्ञान प्रदर्शित किया है। साथ ही उन्होंने अपने पूर्ववर्ती काव्य के सम्बन्ध में भी उनसे लिये गये विपुल उद्धरणों के माध्यम से उन पर अपना अधिकार भी प्रदर्शित किया है। मम्मट के इन्हीं सद्गुणों के कारण 'काव्य प्रकाश' की संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में लगभग साठ टीकायें प्रस्तुत हो चुकी हैं। संस्कृत की टीकाओं की विपुल संख्या 'काव्य प्रकाश' के गम्भीर विवेचन की साक्षी हैं बालबोधिनी मात्र नहीं हैं। मम्मट की प्रतिभा का प्रकाश उनकी वृत्ति में और भी अधिक झलक आया है। काव्य के स्वरूप को प्रकाशित करने में उनके सूत्र और वृत्ति दोनों ही महत्वपूर्ण योग देते हैं। शब्दशक्ति का उनका विवेचन भी उतना ही संतुलित और सारग्राही है।

प्रसन्नता का विषय है कि डा० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल ने मम्मट के इस विवेचन को पुनर्विचार और विशदीकरण का विषय बनाया है। डॉ० अग्रवाल ने सरल भाषा में विषय का प्रतिपादन करते हुए पक्ष-विपक्ष के विचारों को बोधपूर्वक पाठक के सामने रखा है मात्र मम्मट का अनुवाद नहीं किया। उन्होंने विषय की गम्भीरता को रखते हुए उसे दुर्बोधता से बचाने के आशय से ही उस पर दर्शन के अत्यधिक अतिक्रमण से उसे बचाये रखा है।

पूर्वपीठिका में लेखक ने आचार्य मम्मट का समय, शास्त्रकर्त्ताओं में उनका वक्तव्य और काव्यप्रकाश की टीकाओं के अतिरिक्त मूल विषय शब्दशक्ति का भी सारत परिचय दिया है। आगे के अध्यायों में डा० अग्रवाल ने शब्दशक्ति के विवेचन के अतिरिक्त काव्य के स्वरूप और भेदों पर भी विचार किया है। वस्तुत उनका विवेचन सर्वथा सुसबद्ध और सदभगत है। मूलत संस्कृत पाठ और विभिन्न शास्त्र ग्रथों पर आश्रित रहते हुए भी उन्होंने अपने विचारों के प्रकाशन में सकोच नहीं किया है, और यही उनके विवेक का परिचायक भी है। महिम भट्ट के ध्वनिखण्डन और उसके प्रतिवाद का विवेचन सर्वथा एक अलग अध्याय में बड़ी स्पष्टता के साथ किया गया है जिससे ध्वनिविरोधी पक्ष के तर्कों को समझने में और भी सहायता मिलती है और ध्वनिविवेचन की गम्भीरता भी प्रकट होती है। डॉ० अग्रवाल की दृष्टि मूलत विषय पर रही है अतएव उनके लिये संस्कृत का विचार सरणि ही नहीं संस्कृत काव्यादि के शास्त्रकथित उदाहरणों का विवेचन ही महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दी काव्य से उदाहरण देने की बात उनके मन में न उठी हो, ऐसा नहीं है किन्तु लक्षणोदाहरण देने वाले कुछ हिन्दी ग्रथों की वर्तमानता देखते हुए उन्हें उसी रीति का अनुगमन करना उचित प्रतीत नहीं हुआ, विशेषत तब और भी जबकि वे केवल लक्षणोदाहरण देने की परम्परा का पालन न करके सर्वथा गम्भीर विवेचन को अपना लक्ष्य बना चुके थे।

मुझे विश्वास है उनका यह विवेचन माध्यमिकों के लिए विशेषत लाभकर सिद्ध होगा। डा० अग्रवाल के शास्त्र विवेक के इस महत्त्व परिणाम को समादर मिलेगा, ऐसी आशा है।

पूना विश्वविद्यालय
पूना–७ (महाराष्ट्र)
दिनाङ्क १३–२–७०

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग

निवेदन

संस्कृत की एम० ए० परीक्षा में सम्मिलित होते समय आचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' का अध्ययन करने का अवसर मिला था। आचार्य की दार्शनिकता और चिन्तन की गहनता का मेरे मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ा, परन्तु ग्रंथ की दुरूहता एवं समास शैली ने मुझे जहाँ तहाँ रुक कर विचार करने को बाध्य कर दिया था। उस समय मैं इन गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ नहीं हो सका था, परन्तु मन में जिज्ञासा बनी रही और मैं सतत रूप से काव्य-प्रकाश एवं तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन में तत्पर रहा हूँ। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरलतया प्राप्त सभी ग्रन्थों एवं टीकाओं का मैंने अध्ययन किया। इन टीकाओं में काव्य प्रकाश के साथ ही अन्य ग्रंथों की टीकाएँ भी देखने को प्राप्त हुईं। बाल बोधिनी टीका (वामनाचार्य झलकीकर), राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान से प्रकाशित मुनि जिन विजय की टीका, सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका, संकेत टीका (माणिक्य चन्द्र) प्रदीप टीका (नागोजी), ध्वन्यालोक लोचन (अभिनवगुप्त), काव्यादर्श संकेत टीका (सोमेश्वर), अवलोक टीका (धनिक) तथा हिन्दी टीकाओं में हरिमंगल मिश्र, डा० सत्यव्रत सिंह, डा० हरिदत्त और आचार्य विश्वेश्वर की टीकाओं का नाम लिया जा सकता है।

काव्य सम्बन्धी मौलिक चिन्तकों के प्रकृत ग्रन्थों के दर्शन एवं मनन का भी अवसर मिला। इन ग्रंथों में नाट्य शास्त्र (भरत), काव्यालंकार (रुद्रट), ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), काव्य प्रकाश (मम्मट) दश रूपक (धनञ्जय) अभिधावृत्तिमातृका (मुकुल भट्ट), साहित्य-दर्पण (विश्वनाथ), रस गंगाधर (आचार्य जगन्नाथ) आदि विभिन्न ग्रंथों की गणना हो सकती है। इन सभी ग्रन्थों से पंक्तियां उद्धृत करके प्रस्तुत विषय का समर्थन किया गया है। महामुनि पाणिनी के सूत्रों, पतञ्जलि के महाभाष्य और भट्टोजि दीक्षित के विचारों का भी लाभ उठाया गया है। उनके आधार पर विषय का स्पष्टीकरण और भी समुचित ढंग से करने का प्रयास किया गया है। भारतीय दर्शन का अध्ययन भी कहीं कहीं उपयोगी सिद्ध हुआ है और प्रस्तुत काव्य से सम्बद्ध दर्शन के अंगों का विशेष रूप से मनन किया गया है। नैयायिक, नव्य नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती, बौद्ध और व्याकरण-दर्शन के योग से विषय पुष्ट और सरल हो

गया है। इस दिशा सम्बन्धी ग्रन्थों में तर्क सिंधु, सिद्धांत मुक्तावली, बृहती (प्रभाकर) न्यायरत्नमाला (पार्थ सारथि मिश्र), तर्क भाषा (ईश्वर कृष्ण), मीमांसा-परिभाषा (कृष्ण यज्वन्), न्याय सूत्र (गौतम) जैमिनीय सूत्र भाष्य (शबर स्वामी) तंत्र वार्तिक (कुमारिल भट्ट), न्याय दर्शन भाष्य (वात्स्यायन) आदि ग्रन्थों की विशेष पंक्तियों की सहायता ली गई है। व्यञ्जना विरोधी मीमांसकों के खण्डन प्रसंग में इसी कारण कुछ विस्तार भी हो गया है। महिम भट्ट की अनुमान प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए न्याय दर्शन की सहायता ली गई है। विभिन्न ग्रन्थों की उद्धृत की गई पंक्तियाँ मौलिक ग्रन्थों के अध्ययन के साथ ही अन्य ग्रन्थों में दिए गए उद्धरणों से भी ली गई हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ के विचारों में अन्य विद्वानों के उद्धृत प्रसंगों एवं तत्सम्बन्धी परिश्रम का भी कहीं कहीं उपयोग हो गया है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में 'काव्य प्रकाश' को आधार ग्रन्थ माना है। इसी के विचारों के चतुर्दिक अपने चिन्तन का क्षेत्र सीमित रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'काव्य प्रकाश' के उन्हीं अंशों को ग्रहण किया गया है जिनका सम्बन्ध 'शब्द शक्ति' मात्र से रहा है। अतः सम्पूर्ण काव्य प्रकाश के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ उपादेय सिद्ध नहीं हो सकता परन्तु 'शब्द शक्ति' के जिज्ञासुओं की तृप्ति में यदि यह ग्रन्थ सहायक हो सका तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूँगा।

इतना और कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस ग्रन्थ की भूमिका में 'काव्य प्रकाश' एवं आचार्य मम्मट सम्बन्धी कुछ विचार व्यक्त किए गए हैं। हो सकता है कि कुछ विद्वानों एवं आलोचकों को यह प्रस्तुत विषय के अनुरूप न प्रतीत हो परन्तु इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन है कि इसके द्वारा आचार्य मम्मट के प्रति मेरी आदर श्रद्धा भावना की तृप्ति हो सकी है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का प्रणयन विद्वानों की संगति का ही फल है। अतः पाठक इसे अपना ही समझ कर अपनायें तथा अपनी ही भावनाओं एवं विचारों की उपयोगिता का निर्णय सुधीजन स्वयं करें।

अन्त में श्रद्धेय डा० आनन्दप्रकाशजी दीक्षित का मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका लिखने का कष्ट किया है।

पुरुषोत्तम दास अग्रवाल

नई दिल्ली
१५-२-१९७०

पूर्व—पीठिका

आचार्य मम्मट समय

समय—वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट की 'राजानक' उपाधि इस बात को स्पष्ट करती है कि वे एक काश्मीरी आचार्य थे। 'सुधा सागर' के टीकाकार भीमसेन दीक्षित का आधार ग्रहण करते हुये पीटर्सन महोदय ने बताया है कि आचार्य मम्मट 'कय्यट' के छोटे भाई एवं 'उव्वट' के बड़े भाई तथा 'जय्यट' के पुत्र थे। 'कय्यट' महाभाष्य की प्रसिद्ध टीका 'प्रदीप' के टीकाकार थे, 'उव्वट' ने प्रातिसाख्यो पर टीका लिखी थी भोलाशंकर व्यास के अनुसार उव्वट मम्मट के बड़े भाई नहीं हो सकते क्योंकि उव्वट ने अपने पिता का नाम वज्रट लिखा है, जय्यट नहीं।'[1] मि० हॉल और वेबर ने मम्मट को 'नैषधीय चरित्र' के कर्ता श्री हर्ष का मामा बताया है। यदि इस प्रचलित किम्वदन्ती की सत्यता में विश्वास कर लिया जाय तो मम्मट के समय निर्धारण में सरलता हो जायगी।

(i) महाकवि श्री हर्ष के आश्रयदाता जयचन्द्र थे। इतिहासकारों ने जयचन्द्र का समय बारहवीं शताब्दी निश्चित किया है। अतः श्री हर्ष का भी समय यही होगा और मम्मट से इनका सम्बन्ध होने के कारण मम्मट भी इसी शताब्दी में आचार्य रहे होंगे।

(ii) हेमचन्द्र ने काव्य प्रकाश के बहुत से उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं आचार्य हेमचन्द्र का समय १०८० के आस पास माना गया है।

(iii) मम्मट ने 'भोज'[2] का वर्णन किया है और भोज का समय भी १०५५ के आस पास है। अतः इन ऐतिहासिक आधारों पर यह सिद्ध हो रहा है कि मम्मट और श्री हर्ष समकालीन नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों के समय में इस हिसाब से काफी अन्तर प्रतीत होता है। मम्मट की स्थिति श्री हर्ष से पूर्व और लगभग १०२५–१०७५ के बीच में जान पड़ती है।

(iv) 'काव्य प्रकाश' के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मम्मट रुद्रट अभिनवगुप्त और महिमभट्ट आदि आचार्यों से परिचित थे

---

१ ध्वनि सम्प्रदाय और उसके वाद पृष्ठ ४८०

२ " भोजनृपतेस्तत्याग लीलायितम्"

अथवा उनके सिद्धान्तों का ज्ञान रखते थे क्योंकि रुद्रट के अलंकारों का स्पष्ट प्रभाव उन पर पड़ा है। पंचम उल्लास में जिस अनुमानवादी मत का खण्डन करके आचार्य ने ध्वन्जना की स्थापना की है, वह मत सम्भवतः महिम भट्ट का ही है और इनका समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। अतः मम्मट और महिमभट्ट की समसामयिकता मानी जा सकती है।

(v) काव्य प्रकाश' की टीकाओं की जो अबाध परम्परा चल पड़ी थी, उन टीकाओं में प्राचीनतम उपलब्ध टीका माणिक्य चन्द्र ने सन् ११५८ ई० में लिखी थी इस टीका से व्यक्त होता है कि मम्मट के ज्ञान का प्रभाव तत्कालीन विद्वानों के मस्तिष्क पर पड़ चुका था और उनके 'काव्य प्रकाश' की इतनी ख्याति हो चुकी थी कि विद्वान् लोग उस पर टीका लिखना गौरव समझने लगे थे। इस प्रथम टीका से प्रकट है कि मम्मट निश्चित देह सन् ११६० (१२१६ स) से पूर्व रह होंगे और इस टीका लिखने के काल तक उनकी पूर्ण प्रसिद्धि हो चुकी थी।

(vi) अलंकार-सर्वस्व के रचयिता ने भी इन्हीं दिनों एक अन्य टीका 'काव्य प्रकाश' पर लिखी थी। इस टीका के टीकाकार रुय्यक का समय बारहवीं शती बताई गई है अतः मम्मट का समय निश्चित रूप से इसके पूर्व ही होना चाहिए।

इस प्रकार यह व्यक्त हो गया कि दार्शनिकों एवं विद्वानों के बीच इस 'काव्य प्रकाश' ग्रन्थ की मान्यता ११ वीं शती तक हो गयी थी और गुजरात देश वासी माणिक्य चन्द्र की संकेत टीका से (११५८ ई०) यह प्रकट होता है कि काश्मीर से लेकर दक्षिण भारत तक मम्मट के इस ग्रन्थ का पूर्ण प्रचार १२वीं शती तक हो चुका था। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना के एक शती के भीतर ही इसका प्रसार एवं प्रचार अपनी पूर्णता तक पहुँच चुका था। इससे इस ग्रन्थ की महत्ता का पूर्णरूप से ज्ञान हो जाता है। और इसी आधार पर मम्मट के समय का निर्धारण भी सरलतया हो सकता है यदि बारहवीं शताब्दी तक इस पर टीकाएँ लिखी जाने लगी थी तो इसका तात्पर्य यही है कि इस समय तक आचार्य मम्मट की पूर्ण ख्याति हो चुकी थी और इस ख्याति में कुछ न कुछ वर्षों की अवधि अवश्य लगी होगी। अतः इसके पहले ही मम्मट का समय अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक मानना ही समीचीन होगा।

व्यक्तित्व—आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश' के अध्ययन से ऐसा सिद्ध होता है कि वे एक महान् दार्शनिक थे। उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से इस ग्रन्थ से व्यक्त हो जाता है। उन्होंने स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा

है परन्तु उनके सम्बन्ध म उनके टीकाकारो मे बहुत सी किम्वदन्तिया प्रचलित हैं। इन किम्वदन्तियो कि प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे मतभेद है। परन्तु इतना तो बिना किसी संशय के कहा जा सकता है कि मम्मट काश्मीरी थे और काश्मीरी दर्शन के बीच रहकर उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास भी हुआ था। इस बात की पुष्टि उनके इस ग्रन्थ से हो जाती है। इन पर शैवदर्शन का पूर्णरूप से प्रभाव है इसके प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर ही उनके 'रस दर्शन' की स्थापना हुई है। इसे मम्मट और काश्मीरी 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।

आचार्य मम्मट का सम्बन्ध भीमसेन दीक्षित ने (१६ वी शती) काशी से भी स्थापित किया। इतना तो निश्चित है कि सभी काश्मीरी विद्वान् काशी आया करते थे, परन्तु इसी आधार पर उन्हे वहाँ का वासी तो किसी भी दशा में स्वीकार नही किया जा सकता है। हा, इतना अवश्य है कि वे काशी आते रहे होंगे तथा वहा रहकर अध्ययन किया होगा।

ग्रन्थ--आचार्य मम्मट की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमे प्रथम 'काव्य-प्रकाश' और 'द्वितीय शब्द-व्यापार विचार' है इन दोनो मे दूसरा ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' के द्वितीय उल्लास का ही और अधिक स्पष्टीकरण है। इनका प्रथम ग्रन्थ काव्य प्रकाश ध्वनि सम्प्रदाय का एक अत्यधिक प्रामाणिक एव प्रस्थान ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ म ध्वनि विरोधी सभी मतो का खण्डन करते हुये काव्य सम्बन्धी अन्य सम्प्रदायो को ध्वनि अग रूप म सिद्ध किया गया है और ध्वनि के अङ्गीत्व की स्थापना गई है। इस प्रकार इस ग्रन्थ म प्रचलित काव्य सम्बन्धी सभी धारणाओ का समन्वय स्थापित किया गया है।

काव्य प्रकाश म कुल १४२ कारिकायें और ६०३ उद्धरण हैं। इन कारिकाओं को दस उल्लासो म विभाजित किया गया है। प्रथम उल्लास मे मगलाचरण म शैव दर्शन अन्तर्हित है। काव्य प्रयोजन काव्य हेतु-काव्य लक्षण और काव्य प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। काव्य के उत्तम मध्यम और अवर भेद करने वाले य प्रथम आचार्य थे। इनके पूर्व 'काव्य' सज्ञा प्राप्त करने के लिये अलकारो की उपस्थिति अनिवार्य थी अर्थात् अलकार युक्त रचना को ही काव्य कहा जाता है। मम्मट ने ध्वनि और अलकारो का समन्वय स्थापित किया है, जबकि ध्वनिकार न केवल ध्वनि का ही विश्लेषण किया है।

द्वितीय उल्लास म शब्द और अर्थ का विश्लेषण उपस्थित किया गया है, तीन प्रकार के अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यग्य), तीन प्रकार के शब्द, वाचक, लक्षक,

ध्यजय) तीन की शब्द शक्तियां (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) का निरूपण किया गया है। मीमासकों के अभिहितान्वय वाद (कुमारिल भट्ट) और अन्विताभिधानवाद (प्रभाकर भट्ट) के निरूपण के साथ ही तात्पर्याख्य और तात्पर्या शक्ति का भी संकेत किया गया है। पुन अभिधा, लक्षणा आदि के भेदों पर प्रकाश डालते हुए लक्षणामूला व्यञ्जना का भी निरूपण किया गया है तथा शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ के सहकारित्व का समर्थन किया गया है।

तृतीय उल्लास में अर्थ व्यञ्जना और उसके भी भेदों की चर्चा की गई है।

चतुर्थ उल्लास में लक्षणामूला ध्वनि के भेद काव्य के भेद, ध्वनि स्वरूप और भेदों का विवेचन मिलता है। इसमें रसादि ध्वनि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत रस, भाव रसाभास भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भाव सबलता और भाव शान्त्यादि का विवेचन किया गया है।

पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य काव्य के भेदों का वर्णन और ध्वनि तथा व्यञ्जना निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। इसी स्थान पर ध्वनि विरोधी सभी तर्कों का खण्डन अकाट्य तर्कों द्वारा किया गया है।

षष्ठ उल्लास में अधम काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है।

सप्तम में दोषों का निर्देश है। यहीं पर आचार्य वामन द्वारा बताये गये दश गुणों का अन्तर्भाव मम्मट ने केवल अपने तीन गुणों में ही कर दिया है।

नवम् उल्लास में शब्दालंकारों तथा दशम् और अन्तिम उल्लास में अर्थालंकारों का विस्तार से विवेचन किया गया है। मूलरूप में अपने इन वर्ण्य एवं प्रतिपाद्य विषयों के साथ मम्मट ने अपने विरोधी विचारवालों का खण्डन भी किया है।

काव्य-प्रकाश का कर्तृत्व

काव्य प्रकाश के कर्तृत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। आज तक निश्चयात्मक रूप में यह नहीं बताया गया है कि काव्य प्रकाश एक ही कर्त्ता की कृति है अथवा अनेक कर्त्ताओं का इसमें योगदान है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत दिया है। इन सभी पर विचार करने से यह फल निकलता है कि —

(i) 'काव्य प्रकाश' के वृत्तिकार और कारिकाकार भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् कारिकाएँ भरत मुनि की और वृत्तियाँ मम्मट की हैं।

(ii) इसकी रचना दो विद्वानों मम्मट और अलटसूरि ने मिलकर की है।

(iii) तीन व्यक्तियों की रचना है, इनमें अलक, मम्मट और रुय्यक का नाम बताया गया है।

इन सभी बातों पर क्रमशः विचार किया जायगा।

(क) प्रथम मत—कारिका और वृत्ति भाग के भिन्न कर्तृत्व की भावना सर्व प्रथम बंग देश में उत्पन्न हुई थी। साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण तथा काव्य प्रकाश की 'आदर्श टीका' के रचयिता महेश्वर ने कारिका और वृत्तिकार की भिन्नता का प्रतिपादन किया है। इन दोनों विद्वानों के अनुसार मूलकारिका रचयिता भरत मुनि थे। विद्याभूषण ने तो स्पष्ट शब्दों में कारिका कर्तृत्व के रूप में भरत मुनि का ही नाम लिया है।[१] इसी प्रकार टीकाकार महेश्वर ने भी भरत मुनि का ही समर्थन किया है अर्थात् इन्होंने भी सूत्रों का निर्माता भरत मुनि को और कारिका निर्माता मम्मट को माना है और कई तर्क दिये हैं। इनसे भी यही सिद्ध होता है कि कारिकाएँ मम्मट की न होकर भरत मुनि की ही होंगी क्योंकि बहुत सी कारिकाओं में भरत के नाट्यशास्त्र की कारिकाओं से समानता है।

समाधान—इस युक्ति में भी सबलता का अभाव ही है तथा इसकी निस्सारता स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाती है। इसमें केवल 'परामृशति' पद का प्रयोग देखकर ही कारिका एवं वृत्तिकार की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु भेदवादियों की इस युक्ति से उनकी अज्ञानता ही अधिक स्पष्ट हो रही है। क्योंकि कोई भी ग्रन्थकार जब अपनी ही कारिकाओं की व्याख्या स्वयं करने लगता है तो वह उतने समय के लिये अपने को एक भिन्न व्यक्ति मान लेता है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार भिन्न व्यक्ति मानकर अन्य अथवा प्रथम पुरुष के प्रयोग की प्रणाली परम्परागत रही है, तथा इस प्रणाली का

---

१ (i) मम्मटद्युक्तिमाश्रित्य मिता साहित्य कौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्री विद्याभूषणो व्यधात्॥
(साहित्य कौमुदी)

(ii) सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषाकृती समास्याम्। (साहित्य कौमुदी)

विषय समान्तर भी रहा है। विश्वनाथ[2] नागेश[3] आदि सभी विद्वानों ने इस शैली का आधार ग्रहण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत साहित्य में विद्वानों के बीच यह प्रवृत्ति अधिक प्रचलित थी और कदाचित इसका अभिप्राय उत्तम पुरुष प्रयोग जन्य अहंकार शून्यता का बताना ही इन विद्वानों का उद्देश्य था और इसीलिये प्रथम पुरुष का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इसी परम्परा का अनुसरण आचार्य मम्मट ने भी किया है और इसी कारण अन्य पुरुष का प्रयोग यहाँ समीचीन कहा जायगा तथा इससे भिन्न कर्तृत्व की बात पुष्ट नहीं होती है।

(१) इस सम्बन्ध में एक दूसरा तर्क भी दिया जाता जा सकता है। काणे महोदय ने बताया है कि यदि वृत्तिकार और कारिकाकार दो भिन्न व्यक्ति होते तो ऐसी दशा में वृत्ति के आरम्भ में भी मङ्गलाचरण अवश्य होता, क्योंकि इस प्रकार की परम्परा भी साहित्य में रही है परन्तु यहाँ पर दो भिन्न-भिन्न मंगलाचरण नहीं हैं। अतः कहा जा सकता है कि कारिका और वृत्ति भाग का भिन्न कर्तृत्व सम्भव नहीं दीख पड़ता है और दोनों का मम्मट कृत मानना ही उचित प्रतीत होता है।

(२) भरत मुनि के रस सूत्र को उद्धृत करते हुए आचार्य मम्मट ने चतुर्थ प्रकाश में लिखा है कि 'तदुक्तं भरतेन' अर्थात भरत के द्वारा कहा गया है। यदि कारिका भाग भरत मुनि प्रणीत होता है तो यह लिखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती और उसी गति में उस सूत्र का भी उद्धरण दे दिया जाता।

(३) अन्यवादियों ने कारिका और वृत्तिभाग के भिन्न कर्तृत्व को सिद्ध करने के लिये एक और तर्क दिया है। दशम उल्लास में रूपक अलंकार के प्रसंग पर कहा गया है कि "समस्त वस्तु विषय श्रौता आरोपिता यदा" अर्थात जब आरोप्यमाण अर्थ शब्द श्रौत होता है तो वह समस्त वस्तु विषय नामक भेद होता है। इस सूत्र की व्याख्या में मम्मट ने लिखा है कि बहुवचन मविवक्षितम् अर्थात् यहाँ बहुवचन अविवक्षित भी हो सकता है। अब पूर्व पक्षी का यह कहना है कि यदि दोनों भागों का कर्त्ता एक ही होता तो ऐसी दशा में पहले 'आरोपिता' में बहुवचन का प्रयोग करके पुनः उसकी व्याख्या

---

२ "वाग्देवताया साम्मुख्यमाधत्ते (साहित्य दर्पण)

३ 'नागेश कुरुते सुधी" —नागेश

म स्वय 'बहुवचन मविवक्षितम्'' लिखने का कोई महत्व नहीं रहता है। वे यदि चाहते तो स्वय कारिका म ही यह परिवर्तन कर देते। अत इसम स्पष्ट होता है कि कारिका मम्मट कृत न होकर भरत कृत ही है।

समाधान—उपर्युक्त कथन से भेदवादियों ने भिन्नता का प्रतिपादन करना चाहा है। और कहा है कि एक कर्तृत्व होने पर इस प्रकार लिखने की आवश्यकता नहीं थी। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इन पूर्व पक्षियों ने प्रस्तुत प्रसग का अवधारण समुचित रूप से नहीं किया है। इस प्रसग मे रूपक के समस्त वस्तु विषय' भेद की चर्चा की गई है कि रूपक मे एक वस्तु के ऊपर दूसरी वस्तु का आरोप होता है और इन भेदों मे बताया गया है कि यह आरोप अनेक वस्तुओं का भी हो सकता है। अर्थात उनमे दो या दो से अधिक आरोप होने चाहिये और सबका शब्दत कथन होना चाहिये। ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है कि अधिक आरोपो के कथन से तो समस्त वस्तु विषय भेद होगा ही। साथ ही यदि दो आरोप ही उपात्त हो, तब भी यह भेद मान लिया जायगा। इसी कथन को उसने अलग अलग कारिका और वृत्ति म लिखा है यदि दोनो स्थानो पर बहुवचन का ही प्रयोग होता तो उसका यह अर्थ लगाया जाता है यदि दो आरोपो का शब्दत कथन हो तो वहाँ रूपक का 'समस्तवस्तुविषयक' यह भेद नही माना जा सकता था। इसी कमी को दूर करने के लिए इस प्रकार का प्रयोग किया गया है। यदि इसके विपरीत मूलकारिका मे ही द्विवचन का प्रयोग किया जाता तो पुन बहुवचन मे बहुत से विषयो के आरोप एव शब्दत कथन की समस्या उठ जाती। अत द्विवचन और बहुवचन दोनो द्वारा इस भेद को कहने के लिए ही इस प्रकार का कथन किया गया है। इसलिए इसी कथन के आधार पर भिन्नकर्तृत्व का समर्थन नहीं किया जा सकता।

(ii) रूपक अलकार के ही प्रसग मे एक कारिका म कहा गया है कि "साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्ध, मालातु पूर्ववत' अर्थात मालोपमा के समान ही मालारूपक भी पूर्ववत्' होता है यहाँ जिस मालोपमा का सकेत पूर्ववत् द्वारा किया गया है वह कारिका भाग म न होकर वृत्तिभाग म ही है। यदि कारिकाएँ भरत निर्मित होती तो इस कारिका भाग मे प्रयुक्त 'पूर्ववत' का सकेत कारिका म ही प्राप्त होता, परतु वह कारिका म न होकर वृत्ति मे है और दोनों भागों का रचयिता मम्मट ही है। इसी से उन्होंने वृत्तिभाग का सकेत अपने इस कारिका' म कर दिया है। अत कहा जा सकता है कि भेदवादियो का यह विचार कि कारिकाएँ भरत द्वारा और वृत्ति मम्मट द्वारा

लिखी गई है मान्य नहीं हो सकता है। अपितु दोनों का कर्त्ता मम्मट को ही मानना चाहिये।

(ख) द्वितीय मत —इस मत में भी काव्य प्रकाश के कारिका और वृत्तिकार को दो व्यक्तियों की रचना बतायी गयी है परन्तु कुछ अन्तर के साथ। इसके अनुसार भरत मुनि कारिकाओं के निर्माता नहीं हैं अपितु इनके स्थान पर 'अल्लटसूरि' का नाम लिया गया है। यह भी एक काश्मीरी विद्वान थे तथा इनके सहयोग से ही काव्य प्रकाश की रचना पूर्ण हो सकी है परन्तु यह सहयोग किस रूप में है तथा कितना अंश अल्लटसूरि का लिखा है, इस सम्बन्ध में मतभेद है।

काव्य प्रकाश की 'निदर्शना टीका' में आनन्द ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि दशम उल्लास के परिकर अलंकार तक की रचना मम्मट ने तथा बाद की रचना अल्लटसूरि ने की है[1]। काव्य प्रकाश के अन्त में दिये गये श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने अपना भिन्न भिन्न मत दिया है कि इस ग्रन्थ का आरम्भ किसी अन्य विद्वान् ने किया था और उसकी पूर्ति किसी दूसरे विद्वान् द्वारा की गई है। माणिक्यचन्द्र ने अपनी टीका में लिखा है कि यह ग्रन्थ अन्य के द्वारा प्रारम्भ किया गया और दूसरे के द्वारा पूरा किया। इस प्रकार दो खण्डों का होता हुआ भी यह अखण्ड है।[2] दूसरे टीकाकार रुचक ने भी बताया है कि मूल ग्रन्थकार किसी कारण से ग्रन्थ को पूरा नहीं कर सका अतः दूसरे व्यक्ति के द्वारा इसे पूरा किया गया[3]। इन दोनों विद्वानों के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य प्रकाश के दो निर्माता थे परन्तु दूसरा कौन था इस सम्बन्ध में संशय मौन हैं। इसका अर्थ यह है कि दो व्यक्तियों द्वारा रचित होने पर भी यह ग्रन्थ अखण्ड प्रतीत होता है। श्री एस० आर० [illegible] ने भी माणिक्यचन्द्र के मत टीका के विचारों का समर्थन किया है कि परिकरालंकार तक का भाग मम्मट की रचना है, परन्तु बाद का कारिका भाग और वृत्ति के रचयिता अल्लटसूरि ही हैं।

---

1 कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। ग्रन्थः सम्पूरितः शेषो [illegible] अल्लटसूरिणा। का० प्र०। निदर्शना टीका।

2 अथ चायं ग्रन्थः [illegible] समाप्तिं [illegible] संख्या [illegible] (माणिक्य चन्द्र [illegible])

3 '[illegible] [illegible] [illegible]

इसी सम्बन्ध में एक अन्य मत और प्रचलित है कि परिकर अलंकार, के बाद की रचना ही केवल अल्लटसूरि द्वारा निर्मित नहीं है। अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थ ही मम्मटाचार्य एवं अल्लट सूरि या 'अलक' की सम्मिलित रचना है। श्री भण्डारनायक द्वारा प्राप्त काव्य प्रकाश की एक पाण्डुलिपि में अन्त की पुष्पिका में लिखा है कि "इति राजानक मम्मटालकयो।" इस आधार पर भी यह दोनों की रचना सिद्ध होती है। अर्जुनदेव ने भी इसी बात की पुष्टि की है।[1] दूसरे स्थान पर भी दो कर्त्ताओं की ओर संकेत है।[2] और "काव्य प्रकाशकारौ"[3] के द्वारा द्विवचन का प्रयोग भी किया गया है। संकेत टीका में एक अन्य स्थान पर पुनः तीन कर्त्ताओं की चर्चा है। राजानक मल्ल मम्मट और रुचक ये तीन नाम दिये गये हैं। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' तीन व्यक्तियों की रचना है। इस तरह यह तीसरा मत भी हमारे समक्ष आ जाता है परन्तु इसमें कोई सार नहीं है। क्योंकि संकेत टीकाकार रुचक ने अपना भी नाम इन्हीं उपर्युक्त दो कर्त्ताओं के साथ जोड़ लिया है। और यहाँ टीकाकार का उद्देश्य मूल ग्रन्थ को बताना न होकर 'काव्य प्रकाश' संकेत टीका को ही बताना रहा है, और इस संकेत टीका के लिखने में तो रुचक ही प्रमुख रहा है। बस सामान्यतया दो कर्त्ताओं की बात ही अधिकांश टीकाकारों में प्रचलित है।

समाधान — इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अलक या अल्लट ने रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' पर एक टीका लिखी थी और रुय्यक ने काव्य प्रकाश पर एक दूसरी टीका लिखी है। रुय्यक की यह टीका 'अलंकार सर्वस्व' लिखने के पहले ही लिखी जा चुकी थी। अतः यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि जो रुचक का टीकाकार है वही काव्य प्रकाश के मूल लेखकों में भी हो। इसीसे इस मत को भी नहीं माना जा सकता है और हो सकता है कि उपर्युक्त टीकाकारों में प्रचलित किसी भ्रम के द्वारा ही काव्य प्रकाश का युग्म कर्तृत्व मान लेने की प्रथा चल पड़ी हो।

---

१ 'यथोदाहृत दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां प्रसादे कर्तव्य" । अमरुक शतक-टीका अर्जुनदेव ।

२ " किन्तु ध्वादकमयावष्टम्भ प्रसादो काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टौ" । अर्जुनदेव ।

३ "इतिश्रीमद्राजानकमल्ल मम्मट रुचक विरचिते निजग्रन्थकाव्य प्रकाश संकेते प्रथम उल्लास " संकेत टीका प्रथम उल्लास की पुष्पिका ।

(ग) ततीय मत — ततीय मत म मम्मट, अलट और रुय्यक इन तीन कर्त्ताओ का नाम लिया गया है। स्टीन और पीटरसन जस पाश्चात्य विद्वानो ने इस मत का समथन किया है परतु इस मायता का कोई भी प्रामाणिक आधार नही है।

आजकल अधिकाश विद्वानो की मा यता मम्मट के कत त्व का ही समथन करती है। इन लागो क अनुसार का य प्रकाश की कारिकाय एव सभी वति भाग का एक मात्र रचनाकार मम्मट ही है, अय कोई विद्वान नही। मेरा भी यही विचार है क्योकि का य प्रकाश ग्र य की शली का अध्ययन करने स उसमे भिन्नता नही प्रतीत हाती है। और वह एक ही कवि की लेखनी की रचना मालूम पडती है। साथ ही सभी स्थानो पर सिद्धात की भी एकता है। यदि भिन्न कत त्व होता तो शली या सिद्धात म कुछ न कुछ अ तर अवश्य आ जाता, परतु यह अ तर नही है। अत निश्चयात्मक रूप से कारिका और वत्ति दोनो भागो का रचयिता मम्मट ही है अ य कोई नहा। और विरोधियो की भी भिन्न कत त्व वाली उक्तियो म साथकता नही मानी जा सकती।

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि मम्मट न कुल १४४ कारिकाए इस ग्र य म लिखी है। यदि इनम स २ ३ सूत्रो का कही भरत निर्मित रूप आ भी गया तो इससे उसका (कत त्व) नष्ट नही हो सकता है। बहुधा अपन स पूववर्ती विद्वानो की कुछ पक्तिया अबाधरूप मे आ ही जाया करती है। यदि इन पक्तियो के आधार पर कत त्व ही दूसरे का हा जाय तब तो काय प्रकाश की कई कारिकाएँ जो भामह के का यालकार' से मिलती हैं उनके आधार पर इस ग्र य को भामह की भी रचना कही जा सकती है। परतु ऐसा हम नही मानते है अत कारिकाकार और वत्तिकार वास्तव म एक ही व्यक्ति अर्थात मम्मट ही थे।

(ii) भेदवादियो ने कारिकाकार और वत्तिकार को अलग अलग दो व्यक्ति सिद्ध करने के लिये दूसरा यह तक दिया है कि का य प्रकाश' क प्रथम उल्लास के आरम्भ म ग्रन्थकार न लिखा है कि ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवता ग्रन्थकृत् परामृशति अर्थात् ग्र थ के आरम्भ म विघ्न के विघात के लिये ग्रन्थकार समुचितष्ट देवता का स्मरण करता है। इस वाक्य म परामृशति' का प्रयाग अय पुरुष क एक वचन म किया गया है। इसी पद के आधार पर पूव पक्षियो का कहना है कि मम्मट ही कारिका के

भी कर्ता होते तो ऐसी दशा में अपने लिये ही प्रथम पुरुष का प्रयोग कदापि न करते, अपितु इसके स्थान पर उत्तमपुरुष का ही प्रयोग करते।

(iii) काव्य प्रकाश के इस निरूपण के अवसर पर जिस सूत्र का उल्लेख किया गया है उसके निर्माता निस्सन्देह भरत मुनि ही हैं, क्योंकि वृत्तिकार ने भी लिखा है कि "उक्तं हि भरतेन—" विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्ति 'इति'। इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लास में रसों स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों को बताने वाले सूत्र संख्या ४४,४५ ४६ भी भरत मुनि के ही सूत्र हैं, जो नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के १४,१७ और २१ संख्या वाले सूत्र हैं। अतः भेद वादियों का विचार यह है कि जब इतने सूत्र भरत के हैं ही तो अन्य सूत्रों को भी भरतकृत ही मानना चाहिए।

समाधान—इस सम्बन्ध में इतना तो निश्चित है कि काव्य प्रकाश के उपर्युक्त तीन सूत्र यथार्थ रूप में नाट्यशास्त्र में भी पाये जाते हैं। भेद-वादियों के अनुसार इन सूत्रों के निर्माण की कल्पना मम्मट की न होकर भरत के मस्तिष्क की ही समझनी चाहिए। परन्तु केवल इन तीन सूत्रों के आधार पर ही सम्पूर्ण 'काव्य प्रकाश' को भरत की रचना मान लेना समीचीन प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अन्य कोई भी सूत्र नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। अतः इन तीन ही सूत्रों के आधार पर कारिका का कर्तृत्व भरत मुनि को सौंप देना उचित नहीं कहा जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि भरत की कोई अन्य रचना भी रही होगी क्योंकि कहीं भी उसका उल्लेख अथवा उद्धरण प्राप्त नहीं होता है। अतः निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि इन तीन सूत्रों को छोड़ कर अन्य कोई भी सूत्र भरतकृत नहीं है। और सभी सूत्रों के रचयिता मम्मट ही हैं। तथा उन्होंने ही स्वयं इन सूत्रों पर वृत्ति भी लिखी है।

काव्य-प्रकाश के टीकाकार

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता के बाद सम्भवतः मम्मट का 'काव्य प्रकाश' ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिस पर विद्वानों की दृष्टि सबसे अधिक रही है। इसी ग्रन्थ के आधार पर मम्मट एक अमर काव्यकार के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं और इस ग्रन्थ के निर्माण काल के प्रारम्भ से आज तक इसके पठन पाठन की अबाध परम्परा चलती ही चली आ रही है। इसके स्पष्टीकरण के लिए उनकी टीकाएँ लिखी गई हैं और आज भी उनकी वह धारा अवरुद्ध नहीं है। आचार्य-कमलाकर ने (१६१२ ई०) तो यहाँ तक लिखा

४६ गदाधर कृत टीका

४७ भास्कर की 'रहस्य निबंध' टीका

४८ रामकृष्ण की काव्य प्रकाश भावार्थ

४९ वाचस्पति मिश्र की टीका

५० वामनाचार्य भट्टीकर वाली बालबोधिनी टीका'

५१ हरि मंगल मिश्र की नागेश्वरी टीका

इन संस्कृत की टीकाओं के अतिरिक्त म० म० डाक्टर गंगानाथ झा ने काव्य प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। इधर हिन्दी में भी टीकाओं के लिखने की परम्परा चल पड़ी है।

'काव्य प्रकाश' की हिन्दी टीकाओं में अभी संख्या अधिक नहीं हुई है। अभी तो हिन्दी के विद्वानों का कुछ ही ध्यान इधर आकर्षित हो सका है। इसी से अभी तक हिन्दी में केवल चार टीकाएं ही देखने को मिल सकी हैं। हिन्दी की टीकाओं के इस क्रम में सर्वप्रथम हरिमंगल मिश्र की टीका प्रकाशित हुई थी। डा० सत्यव्रत सिंह द्वारा लिखित 'विमर्शशशिकला' नामक हिन्दी टीका सन् १९५५ ई० में चौखम्भा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी की तीसरी और प्रसिद्ध टीका 'काव्य प्रकाश दीपिका' है। इसके व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर थे, जिनका देहावसान सन् १९६२ ई० में वृन्दावन में हुआ था। यह टीका ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी से सन् १९६ ई० में प्रकाशित हुई है। डा० हरिदत्त शास्त्री की काव्य प्रकाश की चौथी 'प्रभाख्य' नामक टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। यह टीका सं० २०१७ वि० में साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ से प्रकाशित हुई थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी 'काव्य प्रकाश' के समझने में सहायक हो सकता है। यद्यपि यह ग्रन्थ टीका के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है फिर भी काव्य प्रकाश की एक व्याख्या और उसके स्वरूप का निर्धारण इस ग्रन्थ द्वारा हो सका है। काव्य प्रकाश के विचारों का पूर्ण विश्लेपण इस ग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। यदि सम्भव हो सका तो भविष्य में 'काव्य प्रकाश' की पूर्ण व्याख्या एवं निरूपण उपस्थित करने का प्रयास करूँगा परन्तु इस कार्य में विद्वानों का मार्ग दर्शन एवं भगवद् कृपा की ही प्रमुखता होगी। देखें भविष्य अभी किन रूपों में और किन किन चिन्तकों द्वारा काव्य प्रकाश की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

'काव्य-प्रकाश की विशेषताएँ

१ आचार्य मम्मट संस्कृत साहित्य के उन काव्यशास्त्रियों में हैं जिनका ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' एक 'प्रस्थान ग्रन्थ' के रूप मे सम्मानित है। इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता यही रही है कि इसके पूर्व के सभी काव्यकारों-भरत, भामह (काव्यालंकार), दण्डी (काव्यादर्श) वामन (काव्यालंकार सूत्र वृत्ति) रुद्रट (काव्यालंकार), आनन्दवर्द्धन (ध्वन्यालोक), अभिनव गुप्त (ध्वन्यालोक लोचन) कुन्तक (वक्रोक्ति-जीवित) आदि की कृतियों का समन्वयात्मक रूप एवं विचार इसमें प्राप्त हो सकेगा। अभी तक किसी भी ग्रंथ मे काव्य का सर्वाङ्गीण चित्रण एवं विवेचन नहीं किया गया था। किसी ने केवल अलंकारों का, किसी ने केवल वक्रोक्ति का और किसी ने केवल ध्वनि की महत्ता को ही प्रतिपादन किया था। प्रथम बार इस ग्रंथ में सब विचारों का सार संग्रह दिया गया था और अन्य सभी विचारों को इसी ध्वनि की परिधि में लाकर उन्हें ध्वनि का अंग बना दिया गया। इस प्रकार ध्वनि की महाविषयता का प्रतिपादन करते हुए अलंकार, रस वक्रोक्ति और रीति को ध्वनि के ही अन्तर्गत सिद्ध कर दिया गया। अतः यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ में पूर्व आचार्यों की भावनाओं एवं विचारों का समन्वय सार है तथा परवर्ती आचार्यों की भावनाओं का एक मात्र यही प्रेरक स्रोत रहा है। अतः काव्यकारों के लिये यह एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें अतीत एवं भविष्य की सभी काव्य सम्बन्धी मान्यताओं का संगम हो जाता है।

२ काव्य प्रकाश की दूसरी और सबसे बडी विशेषता है उसकी सूत्र अथवा समास शैली। इस शैली के द्वारा मम्मट ने अपने दो उद्देश्यों की पूर्ति की है। (१) विषय की बहुलता को थोडे में समावेश कर देना और (२) यथा सम्भव सभी मतों का स्वरूप उपस्थित करते हुए विरोधियों की भावनाओं एवं विचारों का सूत्र शैली में ही निराकरण कर देना।

इस सूत्र शैली के आधार पर आचार्य मम्मट ने बहुलता से विषयों का समावेश स्पष्टीकरण किया है उन्होंने थोडे में बहुत कुछ कह दिया है। 'भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से आरंभ कर अपने समय तक के लगभग बारह सौ वर्षों तक के काव्य चिन्तन विषयक विचारों का सार इस ग्रंथ मे प्राप्त हुआ है। तथा भरत मुनि द्वारा कहे गये रस सूत्र और उसकी व्याख्या करने वाले आचार्यों के विचारों का संक्षेप मे प्रस्तुत करने में ग्रंथकार ने अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

समय में हमारे समक्ष न आता तो सम्भवत ध्वनि सम्प्रदाय की महत्ता के समक्ष प्रश्न का चिह्न अवश्य लग जाता क्योंकि ध्वनि सम्प्रदाय के विरोधियों में महिमभट्ट और अभिनवगुप्त ने अपने सबल तर्कों द्वारा उसके अस्तित्व को संशय में डाल दिया था तथा मीमांसकों ने भी अपनी तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यञ्जना का निराकरण कर दिया था। अत काव्यप्रकाशकार ने ध्वन्यालोक के विषय को और अधिक पुष्ट, प्राञ्जल एवं सबल रूप में उपस्थित किया तथा ध्वनि विरोधी सभी मतों का निराकरण करते हुए अन्त में ध्वनि की व्यापकता एवं सार्वभौमिकता को सिद्ध कर दिया और इस प्रकार उसके अङ्गीत्व के प्रतिपादन में अपनी बौद्धिक छाप लगाकर उसे एक अमर काव्य सम्प्रदाय के रूप में सदा-सर्वदा के लिये प्रतिष्ठित कर दिया, यदि यह कार्य मम्मट द्वारा न किया गया होता तो सम्भवत ध्वनि की आज की यह महत्ता स्थिर न हो पाती, इसी से आचार्य मम्मट को "ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य" कहा जाता है। अलङ्कार शास्त्र में जिस ध्वनि का प्रथम बार प्रतिपादन आनन्दवर्धन द्वारा किया गया था तथा अभिनवगुप्त ने जिसे "ध्वन्यालोक लोचन" में उस ध्वनि सम्बन्धी विचारों को प्रगति दी थी वही ध्वनि सम्प्रदाय काव्य प्रकाश" में आकर आचार्य मम्मट के हाथों से पूर्णता को प्राप्त हो गया और इसमें पूर्व विद्वानों के विचार और सुव्यवस्थित होकर हमारे समक्ष आ सके हैं। संक्षेप में मम्मट ने भरत भामट्ट, वामन, रुद्रट, दण्डी आनन्दवर्धन आदि के चिन्तन से प्रेरणा प्राप्त की, अपने बाद के अलङ्कारिकों को प्रभावित किया तथा ध्वनि की स्थापना करने में ध्वनि एवं व्यंजना विरोधी आचार्यों—कुमारिलभट्ट प्रभाकर भट्ट धनञ्जय, धनिक, महिम भट्ट मुकुलभट्ट, भट्ट लोल्लट आदि का खण्डन तथा कुन्तक क्षेमेन्द्र और भोजराज जैसे काव्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों का उचित मूल्यांकन करते हुए उन्हें अपने काव्य-प्रकाश में स्थान दिया। इस प्रकार मम्मट की प्रतिभा इस ग्रन्थ में बहुमुखी होकर हमारे समक्ष आयी है, इसी से मम्मट के इस ग्रन्थ के अध्ययन की परम्परा अबाध गति से आज तक चली आ रही है। इसकी सारगर्भिता सर्वमान्य है, महत्ता व्यापक है और उपादेयता के सम्बन्ध में तो दो मत हो ही नहीं सकते हैं। इसमें पूर्ववर्ती अलङ्कार शास्त्रियों के गुणों का ग्रहण और दोषों का परिमार्जन है। इसी से इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से ही काव्यशास्त्र सम्बन्धी सभी आवश्यक तत्वों का पूर्णतया ज्ञान हो जाता है।

६ इस ग्रन्थ में विचारों को पूर्वापर रूप में रखने की जो भावना रही है उससे आचार्य मम्मट की बौद्धिक प्रखरता एवं कलात्मकता का भी भान हो जाता है। उन्होंने न केवल गत बारह सौ वर्षों के साहित्य का मन्थन करके

उनके सारभूत अंश को ग्रहण किया है, अपितु उनको सुव्यवस्थित रूप से सजाया भी है। उसमें उन विचारों के पूर्वापरक्रम-व्यवस्था में भी एक सौष्ठव है। पूर्ण विचार उनके काव्य लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'' में परिलक्षित हो चुका रहा है और इसी एक लक्षण के स्पष्टीकरण के लिये ग्रन्थ के दसों उल्लासों की रचना हुई है। इन उल्लासों के व्यवस्थित क्रम को देखकर यह कहना ही उचित होगा कि आचार्य मम्मट केवल सार ग्रहण करने में ही पटु न थे, अपितु उनके सजाने में भी उनकी कलात्मक प्रवृत्ति सचेष्ट रही है। यथा इस काव्य लक्षण को स्पष्ट करने के लिये ही आगे प्रयास किया गया है। प्रथम उल्लास में काव्य के सामान्य भेदों की चर्चा करके चौथे पाँचवें और छठे उल्लास में विस्तार से क्रमशः इन तीनों ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र काव्य प्रकार काव्यों के भेदों प्रभेदों की चर्चा की गई है। द्वितीय उल्लास में लक्षण में आये हुए शब्दार्थों का स्पष्टीकरण है, तृतीय में आर्थी व्यञ्जना के भेदों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार षष्ठ उल्लास तक 'काव्य' और 'शब्दार्थों' को स्पष्ट किया गया है। दोष, गुण और अलंकारों की चर्चा क्रमशः सातवें, आठवें तथा नौवें-दसवें उल्लासों में की गई है। गुणों के ही साथ आठवें उल्लास में रीति एवं वृत्तियों को भी समेट लेने का प्रयास किया गया है। नवम उल्लास में शब्दालंकार एवं उपमालंकार तथा दशम में अर्थालंकार का वर्णन किया गया है। इस प्रकार सभी विषयों के समावेश से इस ग्रन्थ की उपादेयता बहुत अधिक बढ़ गई है।

७ अभी तक के किये गये काव्य सम्बन्धी विवेचनों में 'काव्य' और 'कला' की ही प्रधानता थी, रस या काव्य की रस सम्बन्धिनी अनुभूतियों की चर्चा नहीं हुई थी। 'ध्वन्यालोक'' में भी ध्वनि के रहस्य को ही समझाने का अधिक प्रयास किया गया था। कुन्तक राजशेखर, क्षेमेन्द्र भोज आदि ने भी अपने कलात्मकता का ही भव्य प्रासाद प्रस्तुत किया था, जिसमें बाह्य दर्शनजन्य सौंदर्य तो था परन्तु हृदय को वशीभूत कर लेने वाली सरसता का उसमें भी अभाव ही पाया गया। आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम काव्य और सहानुभूति तथा सहृदयों के अन्तस्तल में वर्तमान काव्यानन्दजन्य अलौकिकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया और इस प्रकार काव्य विषयक चिन्तन उसके कला पक्ष से हटकर भाव पक्ष की ओर अग्रसर होने लगा, अर्थात् काव्य की स्थापना उस शब्दार्थ युगल में हुई, जिसकी योजना में कवि की लोकोत्तर वर्णन निपुणता सहायक मान ली गई।

८ 'काव्यप्रकाश' की एक अन्य यह विशेषता रही है कि आचार्य

मम्मट ने काव्य के स्वरूप को बताने में किसी एक 'वाद' की सीमा या परिधि को ग्रहण नहीं किया। उनके अनुसार सभी वादों में काव्य का स्वरूप रहता है। इस सम्बन्ध में सीमा का निर्धारण उन्हें पसन्द नहीं था। काव्य का स्वरूप सभी वादों में कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त हो सकता है। इसी से उन्होंने सबका समन्वय किया है अर्थात काव्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण करने के लिये उन्होंने सभी समीक्षण शैलियों का समन्वय किया है और इस भाग में वे प्रथम आचार्य, एवं उनका ग्रन्थ प्रथम ग्रन्थ कहा जाता है।

६ मम्मट ने कहा पर भी अपने अलंकार एवं विद्वत्ता का प्रकाशन अपने ही शब्दों में नहीं किया है। उनमें अहंकारोक्ति का अभाव है। सच तो यह है कि 'काव्य प्रकाश' की विशेषता आचार्य मम्मट के गोपन की प्रवृत्ति में ही है। उन्होंने इस ग्रन्थ में अपने पाण्डित्य को जितना ही अधिक छिपाने की चेष्टा की है, तथा इसके लिये उन्होंने सकेत और सूत्र शैली को अपनाया है, उनका वह पाण्डित्य और भी अधिक निखरता हुआ प्रत्यक्ष होता चला गया तथा उसी पाण्डित्य के कारण उनका यह ग्रन्थ आज भी विद्वानों का कण्ठहार बना इसके पठन-पाठन की प्रवृत्ति को बताता है। अतः निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आचार्य मम्मट का यह ग्रन्थ एक अलौकिक ग्रन्थ है और उनकी विषय प्रतिपादन करने की शैली एवं क्षमता में एक अलौकिकता है, जो अन्य स्थानों पर प्राप्त नहीं हो सकी है। आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश विचारों का एक ऐसा सन्धि-स्थल है, जहाँ उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी मनीषियों के विचार किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। इसी से इस ग्रन्थ की महत्ता आज भी क्षीण नहीं हुई है और जब तक संस्कृत पठन-पाठन की परम्परा रहेगी, तब तक इस ग्रन्थ का भी समादर होता रहेगा। संक्षेप में काव्य प्रकाश की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं —

१ सूत्र शैली और विषय बाहुल्य।

२ भरतमुनि से आरम्भ कर भोजराज तक के सभी विद्वानों के विचारों का सार रूप इस ग्रन्थ में है।

३ सभी सम्प्रदायवादियों को इस ग्रन्थ में उचित स्थान दिया गया है।

४ ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्य दोनों प्रकार के व्यञ्जनाश्रित काव्य के भेदों तथा उदाहरणों के निरूपण के बाद उद्भट आदि साहित्यिकों को, महिम भट्टादि नैयायिकों मुकुल भट्टादि मीमांसकों वैयाकरणों और वेदान्तियों आदि सभी व्यञ्जना विरोधी मतों का खण्डन कर बड़ी विद्वत्ता से व्यञ्जना वृत्ति की सत्ता स्थापित की गई है।

५ दश उल्लासो मे काव्य सम्बन्धी सभी विचारो का विद्वतापूर्ण वर्णन है।

६ समन्वय की प्रवृत्ति के कारण ग्रन्थ की उपादेयता अधिक है।

७ विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पूर्ववर्ती आचार्यों के दोषो का परिमार्जन करते हुए इस ग्रन्थ को पूर्ण बनाया गया है।

८ साहित्य शास्त्र के सभी आवश्यक तत्वो तथा शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलकार, रीति आदि का उचित मूल्याकन करते हुए उन सबका विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

मूल ग्रन्थ के विवेचन के पूर्व शब्द शक्ति पर सक्षेप मे यहाँ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाले काव्य शास्त्रियो ने जब शब्दार्थ को उसका अनिवार्य अग मान लिया तो उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि वे शब्द और अर्थ के स्वरूपों का भी निर्णय करें तथा शब्दों मे किसी विशेष अर्थ को प्रकट करने की जो शक्ति रहती है उसका विवेचन करना भी आवश्यक हो गया अत उनके स्वरूप का निर्धारण ऐसे काव्य शास्त्रियो के काव्य के स्पष्टीकरण के लिये आधारशिला मान माना गया। ऐसे ही लोगों मे आचार्य मम्मट भी हैं इन्होंने भी बताया है कि काव्य 'शब्द और अर्थ का ऐसा मिश्रण है जो निर्दोष हो गुण युक्त हो और अलकार युक्त हो अथवा कही अलकार रहित हो'[१] इस परिभाषा मे शब्द तथा अर्थ की समष्टि को ही काव्य माना गया है। अत इसके आधारभूत शब्द तथा अर्थ के स्वरूप का निर्धारण करने का उत्तरदायित्व उनके ऊपर आ गया।

सामान्य रूप मे वाक्य के अल्पतम साधक अवयव को शब्द कहते हैं ये शब्द तीन प्रकार के अलकार शास्त्रियो ने माने हैं। वाचक लाक्षणिक और व्यञ्जक। मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ को सीधे-सीधे कहने वाला शब्द वाचक कहा जाता है। अभिप्रेत अर्थ को लक्षित करने का कार्य लाक्षणिक शब्द का है, और व्यञ्जक प्रकरण देश काल[२] आदि के प्रसग मे एक तीसरे अर्थ की व्यञ्जना करता है। इन तीनो प्रकार के शब्दों के तीन प्रकार के अर्थ वाच्य,

---

१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि—मम्मट—काव्य प्रकाश १/४

२ वक्तृ बोधव्य काकूना वाक्य वाच्यान्य सन्निधे।
प्रस्ताव देशकालादेर्वैशिष्ट्यात प्रतिभा जुषाम।
योऽयस्यान्यधीर्हेतु व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

लक्ष्य और व्यङ्ग्य हैं इन शब्दों का अपने अर्थ से विशेष सम्बन्ध रहता है। और इन्हा सम्बन्धों से शब्दों के अर्थ का बोध होता है, और सम्बन्ध से ही उसमे एक प्रकार की शक्ति का सचार होता है, अत शब्द की इस शक्ति के आधार पर ही लोकेच्छा के सकेत के साहाय्य से किसी अर्थ को या तो ग्रहण करता है अथवा उसे छोडकर दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेता है। अत सम्बन्ध ही शब्द की शक्ति है, 'शब्दार्थ सम्बन्ध शक्ति"।

शब्दार्थ के इस सम्बन्ध को 'शक्ति' 'वृत्ति' और 'व्यापार' नाम दिया गया है, अत शब्दार्थ सम्बन्ध शब्द शक्ति, शब्द वृत्ति और शब्द व्यापार सभी पर्याय माने जा सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्द से अर्थ का जो बोध होता है, उसमे शब्द अर्थबोध का कारण है अर्थ उसका कार्य है और यह शब्द शक्ति कारण का व्यापार है इस व्यापार को समझने के लिये निम्न लिखित वर्गो म बाटा जा सकता है —

१ वयाकरणो व ध्वनिवादियो म मान्य तीन शक्ति अभिधा, लक्षणा व्यञ्जना।

२ मीमासको की तीन शक्ति—अभिधा लक्षणा और तात्पर्या।

३ भट्ट नायक के मत म तीन शक्ति—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व वाचक शब्द और अभिधा व्यापार—जो शब्द साक्षात साकेतिक अर्थ को अभिधा शक्ति से व्यक्त करता है, उसे अभिधा कहते हैं[1] अर्थात् लोक व्यवहार में सकेत की सहायता स ही शब्द अर्थविशेष का प्रतिपादन करता है, अत जिस शब्द का जिस अर्थ में बिना किसी व्यवधान के सकेत का ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है[2]। इस स्थान पर साकेतित अर्थ की चर्चा की गई है इस सम्बन्ध म सामान्यतया तीन प्रश्न उठते है।

१ सकेत ग्रहण के उपाय क्या हैं?
२ सकेत ग्रहण का विषय व्यक्ति है या जाति?
३ सकेत कितने प्रकार का होता है?

सकेत के आठ साधनो की चर्चा मुख्य रूप स की गई है इनमे 'व्यवहार' प्रमुख है क्य कि इसी के आधार पर 'आवापोद्वाप' क्रिया के द्वारा बालक सकेत

---

१ साक्षात्सकेतित यो ऽर्थमभिधत्ते स वाचक । काव्य प्रकाश २/७

२ सकेत सहाय एव शब्दा ऽर्थविशेष प्रतिपादयतीति यस्य यत्र अव्यवधाने न सकेतो गृह्यते स तस्यवाचक । काव्य प्रकाश द्वितीय उल्लास

ग्रहण करता है। व्यवहार के अतिरिक्त अन्य सात ग्राहक व्याकरण, उपमान कोश, आप्तवाक्य, वाक्यशेष, विवृत्ति अर्थात् व्याख्या और सिद्धपद (ज्ञात पद) का सान्निध्य हैं[1] इनमे व्यवहार मे अन्वय व्यतिरेक बुद्धि के आधार पर बालक की बुद्धि क्रियाशील होती है और वह किसी शब्द का अर्थ इसी साधन के द्वारा जान लेता है, अत सकेत की सहायता से ही शब्दो द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् अर्थ मे सकेत का होना अनिवार्य है। यह सकेत कही तो साक्षात होता है कही असाक्षात्। जहाँ सकेत साक्षात होता है वहाँ शब्द की अभिधा शक्ति कार्य करती हैं और जहाँ असाक्षात् सकेतित अर्थ कार्य करता है अर्थात् परस्पर सम्बन्ध से एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है वहाँ शब्द की अन्य शक्तियाँ क्रियाशील रहती है यानी साक्षात सकेत वाला अर्थ जब किसी प्रयोजन विशेष से उस से सम्बन्धित किसी अप्रसिद्ध अर्थ से अपना सम्बन्ध जोड लेता है तो वहाँ अभिधा के अतिरिक्त दूसरी शक्ति काम करने लग जाती हैं।

उपर्युक्त पक्तियो मे सकेत का जो उल्लेख किया गया है उसके सम्बन्ध म दार्शनिको म बडा मतभेद है।

(१) व्याकरण दर्शन मे इसके चार भेद मानते है, महा भाष्यकार के अनुसार शब्दो की चार प्रवृत्तिया होती हैं, जाति शब्द गुण शब्द क्रिया शब्द और यदृच्छा शब्द।[2] इनमे प्रवृत्ति निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है परन्तु उसमे सकेत 'आनन्त्य' और व्यभिचार दोष के कारण न मानकर उसकी उपाधि मे ही सकेत ग्रहण माना जाता है। अत पतञ्जलि के अनुसार सकेत ग्रह व्यक्ति के उपाधि भूत जाति गुण क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मों म ही होता है। इन चतुर्विध शब्दो के विभाग का समर्थन भाष्यकार ने भी किया है।[3] उदाहरण के लिये यदि गो' से सास्नादिमान एक पिण्ड विशेष का जो बोध होता है उसका कारण उसकी जाति विशेष ही है और गोत्व जाति सब गो व्यक्तियो म एक ही है, इससे एक जगह सकेत हो जाने से सब गो व्यक्तियो की उपस्थिति हो जाती

---

१ शक्तिग्रह व्याकरणोपमान कोशाप्त वाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा॥

२ चतुष्टयी च शब्दाना प्रवृत्ति जाति शब्दा गुण शब्दा क्रिया शब्दा, यदृच्छा शब्दाश्चतुर्था।

३ गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति इतिमहा भाष्यकार —काव्य प्रकाश।

है। कहा भी है कि "गौ स्वरूपत न गौ होती है और न अ गौ, अपितु गोत्व (जाति) के सम्बन्ध से ही गौ कहलाती है।[1] अत वस्तु का प्राणप्रद जीवन धायक वस्तु धम जाति कहा जाता है।

(२) मीमांसकों ने केवल जाति रूप एकविध सांकेतिक अथ को ही माना है, इनके अनुसार शब्दों की उपाधि म सकेत न होकर उनकी जाति में ही सकेतग्रह मानना उचित है और जाति या सामान्य एकाकार प्रतीति के कारण को कहते है। 'अनुवृत्ति प्रत्यय हेतु सामान्यम् तथा वह नित्य और अनेक म समवेत रहता है। नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्व सामान्यम्' इस प्रकार विभिन्न घट व्यक्तियों मे घटत्व सामान्य, विभिन्न पाक क्रियाओं म पाकत्व सामान्य, विभिन्न वस्तुओं म आश्रित शुक्लत्व म शुक्लत्व सामान्य और विभिन्न व्यक्तियो द्वारा उच्चारित डित्यादि म डित्यत्व सामान्य ही है। अत जाति गुण क्रिया यदृच्छा की उपाधियों म सकेत ग्रह न होकर इन सब मे रहने वाली जाति सामान्य को ही प्रवृत्ति निमित्त मानकर उसमे सकेत ग्रह करना उचित है।[2]

(३) नैयायिकों के अनुसार सकेत ग्रह न केवल व्यक्तियों म है और न केवल जातियों म ही है, क्योंकि जाति म शक्ति मानकर यदि उससे व्यक्ति का आक्षेप स बोध कराया जाय तो शाब्द बोध म उसका अन्वय नहीं हो सकता। शब्द के द्वारा ही शाब्दी आकांक्षा पूरी होती है। अत नैयायिक किसी एक म शक्ति ग्रह न मानकर जाति विशिष्ट व्यक्ति मे सकेत मानते हैं। नैयायिक सिद्धान्त भी है कि जाति तथा आकृति स विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अथ होता है[3] इसी को मम्मट ने 'तद्वान' शब्द द्वारा बताया है।

उपयु क्त तीन मतों म यहा मुख्यत उपयोगी विचार यह है कि शब्द का जो साक्षात् सांकेतिक अथ होता है उसे ही वाचक कहते है अर्थात इससे जिस अथ का बोध होता है वह वाच्यार्थ है और इसे ही मुख्यार्थ भी कहते हैं इसी मुख्यार्थ के बोध म शब्द का जो व्यापार होता है उसे अभिधा व्यापार कहते है[4] अत स्पष्ट हो गया कि सकेत का अथ जब सीधे समझ मे आ जाय तब वह शब्द वाच्य और उस अथ का बोध कराने वाला शब्द व्यापार अभिधा कहा जाता है।

---

१ न हि गौ स्वरूपेण गौ नाप्यगौ गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ'। वाक्य प्रदीप।

२ सर्वेषां शब्दाना जातिरेव प्रवृत्ति निमित्तमित्यन्ये। का० प्र० द्वितीय उल्लास

३ व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थ। न्याय सूत्र २/२/६८

४ स मुख्यो यस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। २/८/का० प्र०

इस अभिधेय शब्द के सामान्यतया तीन भेद होते हैं (i) रूढि (ii) योग और (iii) योग रूढि। इसी शब्द शक्ति के अनुसार शब्द और अर्थ को भी रूढि, यौगिक और योग रूढ कहते हैं।

(i) **रूढि शब्द**—जिन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं हो सकती व रूढ कहे जाते हैं, और उसके बोध में अभिधा की रूढि शक्ति व्यापार करती है जैसे मणि, हरि, मृग आदि।

(ii) **यौगिक**—शास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा जिनकी व्युत्पत्ति हो सकती है जैसे पावक गायक आदि शब्द और इसके बोध में व्यापार करने वाली शब्द की शक्ति यौगिक शक्ति हैं।

(iii) **योग रूढ**—व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ मुख्य अर्थ से संकेतित न होकर अन्य अर्थ में रूढ हो जाता है जैसे पंकज अर्थात कीचड़ में उत्पन्न होने वाला परन्तु यह कमल अर्थ में प्रयुक्त हो गया है, इसकी व्युत्पत्ति होते हुए भी यह अर्थ न मानकर दूसरा अर्थ ग्रहण करते हैं।

लक्षणा—बताया जा चुका है कि शब्द का जो साक्षात संकेतित अर्थ होता है वह अभिधा व्यापार का विषय है और उस अर्थ से भिन्न जो असाक्षात संकेतित अर्थ अर्थात् संकेतित अर्थ की परम्परा से होकर आने वाला उससे सम्बन्धित जो दूसरा अर्थ है वह अभिधा व्यापार का विषय न होकर लक्षणा व्यापार का विषय है। इसमें वाक्यादि से प्रयुक्त पदों से अर्थों का जो बोध होता है उसके अन्वय में बाधा होती है अर्थात अन्वयानुपपत्ति का होना लक्षणा का प्रथम लक्षण है। अतः तात्पर्य की उपपत्ति के लिये रूढि या प्रसिद्धि के कारण या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि करने के लिये मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है, यह अन्य अर्थ ही लक्ष्यार्थ है, और उसकी बोधिका शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं।[1] इस लक्षणा के लिये तीन तत्वों का होना आवश्यक है। प्रथम मुख्यार्थबाध द्वितीय मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध और तृतीय रूढि या प्रयोजन में अन्यतर का होना। कुछ लोगों के अनुसार जो लक्षित होता है वह ज्ञान ही लक्षणा है। परन्तु यह कथन असंगत है क्योंकि लक्षणा ज्ञान नहीं हो सकता वह शब्द की शक्ति विशेष है। मीमांसक कुमारिल भट्ट ने अभिधा से अविनाभूत प्रतीति को लक्षणा माना है।[2] मम्मट

---

१ मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत सा लक्षणारोपिता क्रिया। २/९ का० प्र०

२ अभिधेया विनाभूत प्रतीतिः लक्षणोच्यते।—श्लोक वार्तिक

-भी शब्द व्यापार को ही लक्षणा मानते हैं, अर्थात् अभिधा से अविनाभूत जो अन्य अर्थ की प्रतीति का कारण भूत व्यापार है उसे ही लक्षणा कहते हैं। जैसे कुशल पद का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है कुशा को लाने वाला परन्तु रूढि से इसका अर्थ 'चतुर' होता है। अतः यहाँ प्रसिद्धि के कारण साक्षात संकेतित अर्थ न होने से रूढि से अन्य अर्थ हो गया इसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' में घोष का आधारत्व गंगा की धारा में सम्भव न होने से मुख्यार्थ बाध है और इसका अर्थ 'गङ्गा के तट पर आभीरपल्ली है' यह लिया जाता है, इसका प्रयोजन यह है कि मुख्य अर्थ से शैत्य पावनत्व का बोध नहीं हो पाता और इस प्रकार के वाक्य प्रयोग में इसका बाध हो गया। अतः सिद्ध होता है कि मुख्य अर्थ से जिस प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो पायी थी उसकी सिद्धि के लिये मुख्य अर्थ से सम्बन्धित जिस अमुख्य अर्थ से इस प्रयोजन को लक्षित किया जा रहा है शब्द का वह आरोपित शब्द व्यापार ही लक्षणा कहा जाता है, इसी का समर्थन करते हुए मीमांसा सूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ने कहा है कि कोई शब्द अपने अर्थ से अतिरिक्त दूसरे शब्द के अर्थ बोध में क्यों प्रयुक्त होता है, इसलिये कि वह अपने अर्थ से अभिधा के द्वारा किसी भी अन्य अर्थ को किसी न किसी प्रयोजन के लिये ही प्रतिपादित करता है।

लक्षणा भेद—प्रारम्भ में लक्षणा के केवल दो भेद किये गये हैं शुद्धा और गौणी बाद में अवान्तर भेदों के आधार पर मम्मट ने कुल छः भेद किये हैं साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार अवान्तर भेदों सहित लक्षणा के सोलह भेद हैं। इसके पूर्व कि इनके अवान्तर भेदों का ज्ञान हो, इन दोनों के स्वरूप का ज्ञान हो जाना आवश्यक है। गौणी और शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों में तीनों तत्वों मुख्यार्थ बाध मुख्यार्थ सम्बन्ध और रूढि या प्रयोजन में से अन्यतर का होना आवश्यक है। दोनों में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ का अभेद रहता है, इन दोनों में मम्मट के अनुसार प्रमुख भेद यह है कि शुद्धा में उपचार का मिश्रण नहीं होता। गौणी में उपचार यानि सादृश्य का होना आवश्यक है[1] दूसरा भेद यह है कि शुद्धा लक्षणा में तद्योग (लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से योग) *सादृश्येतर सम्बन्ध से रहता है वह सम्बन्ध कारण कार्यत्व सामिप्यादि और* अङ्गाङ्गि भाव सम्बन्ध रहता है गौणी में यह तद्योग सादृश्य सम्बन्ध पर रहता है इसी को उपचार कहते हैं। जब दो पदार्थों में साम्य के कारण उनका

---

१ उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। का० प्र० ५७ आ० विश्वेश्वर

भेद भान समाप्त हो जाय तो वहा उपचार होता है[1] इसम रूपक अन्कार का प्रयोग देखा जाता है, सादृश्य वाले दोनों पदार्थों म एक आरोप्य विषय और दूसरा आरोप्यमाण होता है, उदाहरण के लिए गौर्वाहीक ' सिंहो माणवक ' आदि म क्रमश मौग्ग्यादि और शौर्यादि के सादृश्य के कारण अभेद की स्थापना हुई थी। गौडी लक्षणा के इस सादृश्य का भी एक विशेष प्रयोजन है कि वाहिक की मूर्खता का आरोप बल की मूर्खता म करना हृदयगत भावो की अभिव्यक्ति करना है। अत गौडी वृत्ति क साथ निमित्त या प्रयोजन अवश्य होगा। उपर्युक्त उदाहरण म शौर्यादि के सादृश्य की प्रतीति करना ही प्रयोजन है और 'यह बच्चा शेर है' वाक्य म बच्चे म शौर्य—आदि के सादृश्यातिशय के कारण यह प्रयोग उपचार मूलक है, इसलिये इसम गौण प्रयोग है और गौण लक्षणा है इस प्रकार मम्मट के अनुसार उपचार के अमिश्रण म शुद्धा और मिश्रण मे गौडी लक्षणा मानी जायगी।

मुकुल भट्ट शुद्धा और गौणी के इस भेद को न मानकर दोनो म-ही उपचार को मानते हैं इसलिये उन्होने शुद्धोपचार और गौणोपचार भेद से उपचार मिश्रा लक्षणा के दो भेद किये है। और पुन उनके सारोपा और साध्यवसाना भेद किये है। इस प्रकार शुद्धा के उपादान और लक्षण लक्षणा के दो भेदों को मिला करके कुल लक्षणा के छ भेद हो जाते हैं। इसी का समर्थन मुकुल भट्ट ने अपने ग्रन्थ मे किया है। इस स्थान पर उपचार का अर्थ अन्य के लिये अन्य का प्रयोग है। इस प्रकार जहाँ सादृश्य के आधार पर अन्य के लिये अन्य का प्रयोग होता है गौणोपचार और जहा सादृश्य से भिन्न कार्य कारण भाव आदि के कारण अन्य के लिये अन्य का प्रयोग किया जाय वहाँ शुद्धोपचार कहा जाता है। जैसे आयुष तम म आयु के कारणभूत आयु के लिय घृत ही कहा गया है, यहा पर कार्य कारण भाव सम्बन्ध है। अत यहा शुद्धोपचार हुआ और गौर्वाहीक ' म सादृश्य के कारण गौणोपचार है। अत शुद्धा और गौणी दोनो म ही उपचार है। मुकुल भट्ट ने इन दोनो के भेद निम ताटस्थ्य सिद्धान्त स्वीकार किया है। इनके अनुसार शुद्धा लक्षणा (लक्षणा उपादान) क भेदो मे वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ स सर्वदा

---

१ अत्यन्त विगलितया सादृश्यातिशयमहिम्ना भेद प्रतीति स्थगन उपचार।

२ द्विविध उपचार शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूतभूतयोप मानोपमेयभावस्याभावनोपमानगत गुण सदृशगुणयोगलक्षणासम्भवात् कारण कार्य भावादि सम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरमुपचर्य ते। यथा आयुघ तमिति। अभिधावृत्तिमातृका। पृष्ठ ७–८

तटस्थ रहा करता है। प्रतीति का कोई उपराग नहीं। इसका खण्डन करते हुये मम्मट ने लिखा है कि शुद्धा लक्षणा के दो भेदों में लक्ष्य अर्थ और लक्षक अर्थ का भेद प्रतीति रूप ताटस्थ्य नहीं है क्योंकि गङ्गादि शब्दों के द्वारा तटादि का उस प्रकार प्रतिपादन करने में अभेद की प्रतीति होने पर भी अभीष्ट अभिप्राय की प्रतीति हो सकती है।[1]

ऊपर कहे गये शुद्धा लक्षणा के कार्यकारण अङ्गाङ्गी भाव और सामीप्यादि से भिन्न लक्षणा के अर्थ नियमों को भी चर्चा की गई है इनमें तादर्थ्य सम्बन्ध स्व स्वामिभाव सम्बन्ध (राजकीय पुरुष राजा) अवयव अवयवी विभाग सम्बन्ध (अग्रहस्त हस्त) तात्कर्म्य सम्बन्ध (अतक्षातक्षा) भी शुद्धा लक्षणा कहे गये हैं। इनके द्वारा भी शुद्धा और गौणी का भेद लक्षित किया जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट के अनुसार शुद्धा के चार भेद (लक्षणे, उपादान सारोपा, साध्यवसाना) तथा गौणी के दो भेद सारोपा और साध्यवसाना माना जायगा तथा इनका भेद सादृश्य सम्बन्ध से गौणी और सादृश्येतर से शुद्धा लक्षणा होगी[2] परन्तु मुकुल भट्ट ने छ भेद माने हैं परन्तु थोड़े अन्तर के साथ उनके अनुसार शुद्धा और उपचार युक्ता लक्षणा में शुद्धा के उपादान और लक्षण लक्षणा तथा उपचार के शुद्धोपचार और गौणोपचार और इन दोनों में प्रत्येक के दो दो भाग आरोप और अध्यवसाना से चार भेद होकर कुल छ भेद हो जाते हैं।

इनमें शुद्धा लक्षणा में लक्षण लक्षणा वहाँ होगी जब दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का समर्पण कर दिया जाय जैसे गङ्गायां घोषः में गङ्गा शब्द अपने प्रवाह रूप अर्थ का परित्याग कर देता है और तट को लक्षित करता है। तथा उपादान लक्षणा में अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है जैसे कुन्ताः प्रविशन्ति यष्टयः प्रविशन्ति में कुन्ता से कुन्तधारी पुरुष का आक्षेप कर लिया जाता है। यहाँ पर मुकुल भट्ट (मीमांसक) के उपादान लक्षणा के दोनों उदाहरणों गौरनुबन्ध्य तथा

---

१ अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम् तटादीनां हि गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्प्रतिपत्तौहि प्रति पिपादयिषित प्रयोजन सम्प्रत्ययः का० प्र०

२ भेदा विमौ च साद्दृश्यात सम्बन्धान्तरतस्तथा
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणातेन षड्विधा। १२। १२ का०प्र०

'गौर्वाहीक' दृष्टान्त में गुण का ... किया गया है क्योंकि इन शब्दों
में रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई भी नहीं रहती है। अपितु अभिधामात्र शब्द में
दूसरा आरोप ही होता है तथा इस उदाहरण में अप्रासंगिक प्रमाण का
करती है।

गौणी सारोपा वहाँ होती जहाँ उपमान और उपमेय दोनों का कथन
हो और जब आरोप्यमाण के द्वारा आरोप विषय (उपमेय) का निगरण हो
जाय तो वहीं साध्यवसाना लक्षणा होती इस प्रकार आरोप में स्पष्ट अन्तर
और साध्यवसाना में ... ... नाम करना है जो प्रथम का उदाहरण
'गौर्वाहीक' और द्वितीय का गौर्जल्पति' गौरयम्) है। गौर्जल्पति में उपमान
गौ ने वाहीक उपमेय का निगरण कर लिया है और यह निगरण सादृश्य के
आधार पर है अतः गौणी साध्यवसाना है।

शुद्धा में सादृश्य ... शब्द के पर आरोप और अध्यवसान होता है
यह कारण कार्य तादर्थ्य आदि पर निर्भर रहता है। उदाहरणतः आयुर्घृतम्
में कारण कार्य सम्बन्ध होने पर आरोप्यमाण आयु और आरोप विषय घृत
दोनों का शब्दतः कथन है और एक का दूसरे पर आरोप किया गया है। अतः
शुद्धासारोपा लक्षणा है तथा आयु पिबामि (आयुरेवेदम्)' आरोप विषय घृत
का शब्दतः कथन न होने पर तथा कारण कार्यभाव सम्बन्ध होने पर शुद्धा
साध्यवसाना लक्षणा होगी। इस प्रकार यहाँ तक लक्षणा के छः भेदों का
वर्णन किया गया है। इसका समर्थन मुकुलभट्ट के आधार पर मम्मट ने भी
"लक्षणातेन षड्विधा" के कथन द्वारा किया है।

लक्षणा के सम्बन्ध में रूढि और प्रयोजनवती जिन दो में से एक का
होना आवश्यक बताया गया है उनमें प्रयोजनवती लक्षणा का बोध किस शक्ति
द्वारा होता है इस सम्बन्ध में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। ध्वन्यालोककार ने
प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन को व्यञ्जना गम्य माना है। मम्मट नेभी इसी
का अनुसरण किया है परन्तु मुकुल भट्ट व्यञ्जना जैसी किसी शक्ति को नहीं
मानते। वे इन दोनों को लक्षणा का प्रयोजक हेतु मानते हैं और इस प्रकार
प्रयोजन की प्रतीति भी लक्षणा से ही मानी गयी है यथा अत्र च लक्षणाया
प्रयोजन तटस्थ गङ्गात्वकार्य समवता सविनातपद पुण्यत्व मनोहरत्वादि प्रति
पादनम्। न हि तत पुण्यत्व मनोहरत्वादि स्वशब्दैः स्पष्ट शक्यते इन पंक्तियों
द्वारा पुण्यत्व मनोहरत्व का प्रतिपादन लक्षणा से ही मुकुल भट्ट ने माना है
और उनकी प्रतीति स्व शब्द द्वारा अभिधा से नहीं हो सकती। यह भी उनका
मत है, परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने इस प्रयोजन की प्रतीति अभिधा लक्षणा

या तात्पर्या से न मानकर व्यञ्जना नामक एक अलग वृत्ति से माना है, जिसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास में किया गया है। मम्मट ने पूर्ण विश्वास के साथ द्वितीय उल्लास में भी कहा है कि जिस पुण्यत्व मनोहरत्व रूप प्रयोजन विशेष की प्रतीति कराने के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, शब्द से गम्य उस फल रूप प्रयोजन के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त और कोई शब्द का भिन्न व्यापार नहीं हो सकता है[1]। व्यञ्जना व्यापार के द्वारा ही प्रयोजन का बोध क्या होता है इसका प्रतिपादन कारिका १६-१८ तक में मम्मट ने किया है इस प्रकार इस मत की स्थापना की गई है कि उस व्यङ्ग्य रूप प्रयोजन के विषय में जिस शब्द शक्ति के द्वारा इसका बोध होता है, वह लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही साध्य है और उसे व्यञ्जनात्मक व्यापार कहते हैं। इस प्रकार व्यंग की दृष्टि से लक्षणा के जो तीन भेद अव्यंग या गूढव्यंग या और अगूढव्यंग बताये गये हैं उसमें व्यंग्य अर्थ की सिद्धि करने वाला शब्द का व्यापार ही व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है।[2]

इस व्यञ्जना के दो प्रमुख भेद हैं। शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना। शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद अभिधा मूला और दूसरी लक्षणा मूला अभिधा मूला (विवक्षित वाच्या) के भी असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्य व्यङ्ग्य ये दो भेद हैं। इनमें असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि ही हैं और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत शब्दशक्त्युत्थ अर्थ शक्त्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ ये तीन भेद हैं। इनमें शब्द—शक्त्युत्थ के वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि, तथा अर्थशक्त्युत्थ के १२ अवान्तर उपभेद और उभय शक्त्युत्थ के १ भेद अर्थात संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के १५ और असंलक्ष्यक्रम मिला कर कुल १६ भेद अभिधामूला व्यञ्जना के होते हैं। अविवक्षित वाच्य अर्थात लक्षणा मूला ध्वनि के कुल दो भेद अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत नाम से है।

आर्थी व्यंजना के दस भेद हैं जो वक्ता बोद्धा काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि प्रस्ताव देश काल और आदि के वैशिष्ट्य से अन्याय की

१ यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते। २/१४
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया २/१४ का० प्र०

२ व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहितातु प्रयोजने।
तच्च गूढमगूढंवा तदेषा कथिता द्विधा।
तद्भूर्लाक्षणिक तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मक २/१३,१४ का० प्र०

"गौणो वयस्ता लिता त पुरु का वाचन किया गया है यद्यपि इन दोनों में रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई भी नहीं है। अपितु अविनाभाव सम्बन्ध से इतर आक्षेप से बोध होता है तथा इतर उदाहरण में अर्थापत्ति प्रमाण बोध करती है।

गौणी सारोपा वहाँ होगी जहाँ उपमान और उपमेय शब्दतः कहे गए हो और जब आरोप्यमाण के द्वारा आरोप विषय (उपमेय) का निगरण हो जाय तो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होगी। इस प्रकार आरोप में सारोपा और साध्यवसाना में अतिशयोक्ति नाम रखता है। प्रथम का उदाहरण 'गौर्वाहीक' और द्वितीय का 'गौरयं' (गौरयम्) है। गौर्जल्पति में उपमान गो ने वाहीक उपमेय का निगरण कर लिया है और यह निगरण सादृश्य के आधार पर है अतः गौणी साध्यवसाना है।

शुद्धा में सादृश्येतर सम्बन्ध पर आरोप और अध्यवसान होता है। यह कारण कार्य तादर्थ्य आदि पर निर्भर रहता है। उदाहरणतः आयुर्घृतम् में कारण कार्य सम्बन्ध होने पर आरोप्यमाण आयु और आरोप विषय घृत दोनों का शब्दतः कथन है और एक का दूसरे पर आरोप किया गया है। अतः शुद्धासारोपा लक्षणा है तथा आयु पिवामि (आयुरेवेदम्)' आरोप विषय घृत का शब्दतः कथन न होने पर तथा कारण कार्यभाव सम्बन्ध होने पर शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होगा। इस प्रकार यहाँ तक लक्षणा के छः भेदों का वर्णन किया गया है। इसका समर्थन मुकुलभट्ट के आधार पर मम्मट ने भी "लक्षणातेन षड्विधा" के कथन द्वारा किया है।

लक्षणा के सम्बन्ध में रूढ़ि और प्रयोजनवती जिन दो में अन्यतर का होना आवश्यक बताया गया है उनमें प्रयोजनवती लक्षणा का बोध किस शक्ति द्वारा होता है इस सम्बन्ध मे आचार्यों में बड़ा मतभेद है। ध्वन्यालोककार ने प्रयोजनवती लक्षणा मे प्रयोजन को व्यञ्जना गम्य माना है। मम्मट नेभी इसी का अनुसरण किया है परन्तु मुकुल भट्ट व्यञ्जना जसी किसी शक्ति को नही मानते। व इन दोनो को लक्षणा का प्रयोजक हेतु मानते हैं और इस प्रकार प्रयोजन की प्रतीति भी लक्षणा से ही मानी गयी है यथा अत्र च लक्षणाया प्रयोजन तटस्य गङ्गातटस्य समवेता सन्निपातपद पुण्यत्व मनोहरत्वादि प्रतिपादनम। न हि तत पुण्यत्व मनोहरत्वादि स्वशब्दो स्पष्ट शक्यते' इन पंक्तियो द्वारा पुण्यत्व मनोहरत्व का प्रतिपादन लक्षणा से ही मुकुल भट्ट ने माना है और उनकी प्रतीति स्व शब्द द्वारा अभिधा से नही हो सकती। यह भी उनका मत है, परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने इस प्रयोजन की प्रतीति अभिधा लक्षणा

या तात्पर्या से न मानकर व्यञ्जना नामक एक अलग वृत्ति से माना है, जिसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास में किया गया है। मम्मट ने पूर्ण विश्वास के साथ द्वितीय उल्लास में भी कहा है कि जिस पुण्यत्व मनोहरत्व रूप प्रयोजन विशेष की प्रतीति कराने के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, शब्द से गम्य उस फल रूप प्रयोजन के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त और कोई शब्द का भिन्न व्यापार नहीं हो सकता है[१]। व्यञ्जना-व्यापार के द्वारा ही प्रयोजन का बोध कराया होता है, इसका प्रतिपादन कारिका १६-१८ तक में मम्मट ने किया है इस प्रकार इस मत की स्थापना की गई है कि उस व्यङ्ग्य रूप प्रयोजन के विषय में जिस शब्द शक्ति के द्वारा इसका बोध होता है, वह लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही साध्य है और उसे व्यञ्जनात्मक व्यापार कहते हैं। इस प्रकार व्यङ्ग्य की दृष्टि से लक्षणा के जो तीन भेद अव्यङ्ग्य या गूढव्यङ्ग्य या और अगूढव्यङ्ग्य बताये गये हैं उसमें व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि करने वाला शब्द का व्यापार ही व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है।[२]

इस व्यञ्जना के दो प्रमुख भेद हैं। शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना। शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद अभिधा मूला और दूसरी लक्षणा मूला अभिधा मूला (विवक्षित वाच्या) के भी असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ये दो भेद हैं। इनमें असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि हो हैं और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ये अन्तर्गत शब्दशक्त्युत्थ अर्थ शक्त्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ ये तीन भेद हैं। इनमें शब्द—शक्त्युत्थ के वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि, तथा अर्थशक्त्युत्थ के १२ अवान्तर उपभेद और उभय शक्त्युत्थ के ६ भेद अर्थात् संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के १५ और असंलक्ष्यक्रम मिला कर कुल १६ भेद अभिधामूला व्यञ्जना के होते हैं। अविवक्षित वाच्य अर्थात् लक्षणा मूला ध्वनि के कुल दो भेद अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत नाम से हैं।

आर्थी व्यञ्जना के दश भेद हैं जो वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और आदि के वैशिष्ट्य से अयार्थ की

---

१ यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते। २/१४
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया २/१४ का० प्र०

२ व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।
तच्च गूढमगूढं वा तदेषा कथिता त्रिधा।
तद्भूर्लाक्षणिकस्तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः २/१३,१४ का० प्र०

प्रतीति कराता है । इस अर्थ की प्रतीति कराने वाला जो अर्थ का व्यापार है उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं[1] यह आर्थी व्यञ्जना कभी वाच्य सम्भवा कभी लक्ष्य सम्भवा और कभी व्यंग्यसम्भवा होती है ।

जब वाक्य के वाक्यार्थ से अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है तो वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना होगी । यदि इसका पर्याय भी रख दिया जाय तो इसमें कोई अन्तर नहीं आता । जैसे चित्रपट के प्रतिदिन के देखने वाले व्यवसनी से यदि कहा जाय अब सन्ध्या हो गई है, तो यहाँ व्यंग्य अर्थ निकलता है, कि अब चित्रपट देखने चलो और यह बोद्धा के आधार पर है । सन्ध्या का यदि पर्याय रख दें तो भी व्यंग्य बोध में अन्तर नहीं आयेगा । इसी प्रकार लक्ष्य सम्भवा व्यञ्जना में बोद्धवैशिष्ट्य होता है यथा यदि कोई पिता अपने पुत्र के अयोग्य शिक्षक से कहे कि लड़का अब पहले से बहुत अधिक सुधर गया है, तो यहाँ विपरीत लक्षणा से लड़का बिगड़ गया है यह अर्थ होगा, तथा शिक्षक की अयोग्यता यहाँ व्यंग्य है । यदि सुनने वाला शिक्षक के अतिरिक्त और कोई होगा तो इसमें व्यञ्जना नहीं हो सकेगी । इस उदाहरण में लड़का बिगड़ गया है—इस लक्ष्यार्थ से यह ध्वनित होता है कि शिक्षक अयोग्य है । यहाँ ध्यान देने की बात है कि आर्थी व्यञ्जना में कोई न कोई वैशिष्ट्य अवश्य होना चाहिए तथा लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना के साथ लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना भी रहेगी[2] क्योंकि लक्षणा का प्रयोजन जो व्यंग्य रहता है उसके लिये शाब्दी रहती है और जो दूसरा व्यंग्य लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है उसके लिये आर्थी व्यञ्जना होती है । उपर्युक्त उदाहरण में पुत्र के अविनय का ज्ञान लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना अत्यन्त (तिरस्कृतवाच्यध्वनि) से प्रकट होता है और शिक्षक की अयोग्यता और अपराध की व्यञ्जना लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना के द्वारा सूचित होती है ।

व्यंग्यार्थ सम्भवा आर्थी व्यञ्जना वहाँ होगी जब एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ को सूचित करे । जैसे यदि अर्द्ध रात्रि में भागने का विचार करने वाले दो चोरों में एक कहे देखो रजनीगंधा महक रही है तो व्यंग्य में इसका अर्थ

---

१ वक्तबोधव्यकाकूनां, वाक्यवाच्यान्य सन्निधेः ।
प्रस्ताव देशकालादेर्वैशिष्ट्यात प्रतिभाजुषाम् ।
यो यस्यान्यधीर्हेतु—व्यापारो व्यक्तिरेवसा ३/२१–२२

२ शब्दप्रमाणवेद्योर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यत ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता ३/२३ सा० प्र०

रात्री हो गई, यह अर्थ लिया जायगा और उससे दूसरा व्यंग्य यह निकला कि अब भाग जाना चाहिए। इस प्रकार सभी वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ में निर्विवाद रूप से व्यंग्यत्व रहता है[1]। इस आर्थी व्यञ्जना का व्यापार सदा शब्द निष्ठा होता है परन्तु यह शब्द अर्थ का सहकारी होता है। इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना में भी अर्थ का सहयोग होता है क्योंकि वह व्यञ्जना शब्द दूसरे अर्थ के योग से उस प्रकार का अर्थात् दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है अतः उसके साथ सहकारी रूप में अर्थ की व्यञ्जकता भी स्वयं सिद्ध हो जाती है।[2]

अभी आर्थी व्यञ्जना के जो वक्ता, बोद्धा, काकु आदि के वैशिष्ट्य में जिन दस प्रकारों की चर्चा की गई है, उन सभी प्रकारों में व्यञ्जना का आधार अर्थ ही होता है और उनमें कोई न कोई विशिष्टता अवश्य रहती है। इसमें काकु का अर्थ कण्ठ की ध्वनि से है आदि से चेष्टा का ग्रहण करना चाहिए। शेष स्पष्ट है। वक्तृ-वैशिष्ट्य में वक्ता का प्राधान्य और बोधव्य वैशिष्ट्य में बोद्धा का प्राधान्य विवक्षित होता है इसी प्रकार वाक्य-वैशिष्ट्य वहाँ होगा जहाँ वाक्य का प्राधान्य विवक्षित हो और जहाँ वाच्य अर्थ का प्राधान्य विवक्षित होगा वहाँ वाच्य वैशिष्ट्य माना जायगा। अतः इस भेद का मूल आधार विवक्षा ही है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना— लक्षणा के प्रसंग में बताया गया है कि रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा में से प्रयोजन व्यंग्य रहता है और इसे उदाहरणों द्वारा सिद्ध भी किया जा चुका है। इसमें प्रयोजन या व्यंग्यार्थ को सूचित करने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। इस लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की जो प्रतीति होती है, उसमें शब्द की जो शक्ति काम करती है उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। इस प्रयोजन की प्रतीति संकेत का अभाव होने से अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है। लक्षणा के तीनों हेतुओं के अभाव में उस प्रयोजक सामग्री के न होने से प्रयोजन का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता है। केवल लक्षित अर्थ में अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में गङ्गा लक्षणा से तट का बोध और शब्द में लक्षणा मूला व्यञ्जना से शैत्य पावनत्वादि प्रयोजनों की प्रतीति होती है। अतः तट आदि में जो पावनत्वादि

1 सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।

2 यतः सोऽर्थान्तर युक्तया।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः। २/२०

काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुये आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को ग्रहण कर उत्तरवर्ती लोगों को प्रभावित किया है। उनमें दोनों का सफल समन्वय दिखाई पड़ता है। एक ओर तो उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य परिभाषा के आधार पर अपना मत दिया है और दूसरी ओर उनके काव्य लक्षण के आधार पर उत्तर वर्ती लोगों ने या तो उनकी उस परिभाषा का खण्डन मण्डन किया है अथवा कुछ अन्तर के साथ अपनी परिभाषा दी है।

मम्मट के पूर्व आचार्य भामह और दण्डी दोनों ने ही 'शब्दार्थ' में काव्य का स्वरूप देखा है। इन्होंने अलंकार को काव्य का सर्वस्व मानते हुये उसके रचना पक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया है। इस प्रकार साहित्य की भाषा सामान्य से भिन्न अलङ्कृत भाषा मानी गयी है आगे चलकर इस अलंकार वाद की समीक्षा में वामन ने रीतिवाद का प्रचार किया और 'विशिष्ट पद रचना को ही रीति कहा है[1] इसमें अलंकारों की महत्ता न होकर उसके सौन्दर्य की महत्ता है। इन्होंने सौन्दर्य के रूप में ही अलंकार को माना है। अलङ्कृति रलङ्कार का यही रहस्य है। इस प्रकार आचार्य वामन के द्वारा एक समन्वयात्मक दृष्टि अपनाई गई है, जिसमें दण्डी और भामह का अलंकार रीति में सौन्दर्यवर्द्धक के रूप में आया है। आचार्य वामन के मत में भी काव्य सामान्य रचना की न होकर विशिष्ट पद रचना में ही रहती है।[2] अर्थात् काव्य में 'विशिष्ट शब्दार्थ' का ही महत्व होता है।

इन सबका समन्वय करने के लिए आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद का प्रवर्तन किया। अभी तक सौन्दर्य या विशिष्ट पद रचना पर ही आचार्यों का ध्यान था। सौन्दर्य की मानसिक अनुभूति होती है इस पर ध्यान नहीं गया था। शब्दार्थ की विशिष्ट रचना से भी हृदय पर एक प्रभाव पड़ता है परन्तु

---

१ काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति १/१/२

२ काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति १/२/२१

कवि की कलात्मकता का स्पष्टीकरण अभी तक न हो पाया था। इसी कमी की पूर्ति आचार्य कुन्तक द्वारा की गई। इन्होंने कवि की कृति का महत्व कला के रूप में मान्य ठहराया, और इस प्रकार साहित्य के कलात्मक मूल्य की स्थापना की गई। उक्ति वैचित्र्य वक्र-कथन और वैदग्ध्य भणिति का महत्व इस सम्प्रदाय में मान लिया गया और पूर्ण रूप से कला पक्ष पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया, क्योंकि वक्र भणिति भी एक प्रकार का विशिष्ट शब्दार्थ ही है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय की केवल 'सहृदय गम्य चर्वण' तक की सीमा का अतिक्रमण कर काव्यकार के व्यक्तिगत कवि कौशल पर भी ध्यान दिया जाने लगा। अभी तक ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य सहृदय हृदय की अनुभूतिमात्र रही है कवि-कृति के रूप में उसका विश्लेषण नहीं होता रहा है, कुन्तल आदि आचार्यों ने इस दिशा में भी प्रयास किया और कवि की कृति के रूप में काव्य की सिद्धि की गई। अभी तक के इन आचार्यों ने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने में केवल उसके एकांगी रूप का ही ध्यान रखा था। या तो केवल कला पक्ष का समर्थन करते हुए भाव पक्ष की उपेक्षा की गयी थी अथवा काव्य को केवल मात्र सहृदय हृदय की रसानुभूति कहकर कला-पक्ष का तिरस्कार किया गया था। अतः काव्य स्वरूप निर्धारण की जो चेष्टा की गई थी उसमें पूर्णता का अभाव था। किसी ने रसानुभूति को ही प्राथमिकता दी और किसी ने शब्दार्थ युक्त विशिष्ट पद रचना को ही काव्य की आत्मा माना और कवि की कलात्मक रुचि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती सभी आलङ्कारिकों का गहन अध्ययन करने के उपरान्त इस कमी का अनुभव अवश्य किया था। इसी से उन्होंने अब तक के सभी आचार्यों के अध्ययन एवं चिन्तन से लाभ उठाकर उन सभी मतों का समन्वय किया है। काव्य के अभी तक आंशिक विश्लेषण को परखकर उन्होंने सम्पूर्ण मत के सार रूप में अपने ग्रन्थ में काव्य की ऐसी परिभाषा दी है जो सभी मतों का समन्वय करने में सक्षम रही है। इसी से मम्मट का यह अर्थात उनके द्वारा काव्य के स्वरूप का चिन्तन वास्तव में काव्य का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण है।

मम्मट के काव्य लक्षण की विशेषता—आचार्य मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में बताया कि वे शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं जो दोष रहित हों, गुण युक्त हों और कभी अलङ्कृत हों और कभी नहीं भी हों।[1] इस लक्षण में मम्मट का पर्याप्त चिन्तन और मनन दिखाई पड़ता है। 'काव्य सामान्य' और

---

१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। का० प्र० १/४

विशेष दोनों का समन्वय किया है, इस लक्षण मे इन्होंने 'ध्वन्यालोक'[1] एवं सरस्वती कण्ठाभरण'[2] दोनो का प्रभाव ग्रहण किया है। साथ ही एक ओर भामह, कुन्तक और भोज के काव्य का लक्षण और दूसरी ओर दण्डी, वामन और रुद्रट की मान्यताएँ भी दीख पडती हैं। वास्तव मे इस लक्षण में न तो केवल अलङ्कार, न गुण और न ध्वनि की ही एकाकी महत्ता स्थापित की गई है, अपितु इसमे अलकार गुण, उक्ति-वैचित्र्य, ध्वनि आदि सबका सफल समन्वय किया गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहा 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु इस शब्द पर आलकारिकों ने आपत्ति उठाई है।

तत शब्द—सच तो यह है कि इसका प्रयोग केवल छन्द निर्वाह करने के आग्रह से ही नही हुआ है अपितु इस 'तत' शब्द से काव्य' का बोध कराया गया है, परन्तु इस शब्द को लेकर विद्वानो मे बडा मतभेद उठ खडा हुआ है। इन लोगो ने बताया है कि सर्वप्रथम काव्य के लिये जब 'तत्' प्रयोग किया गया है तो यह शब्द काव्य का परामर्शक हो गया और व्याकरण की दृष्टि से यह एक वचन मे प्रयुक्त हुआ है। तदुपरान्त इसी काव्य के विशेषण रूप मे अदोषौ' और 'सगुणौ' का प्रयोग अनुचित रूप मे किया गया है क्योकि इनका प्रयोग द्वि वचन मे है। ऐसा प्रयोग पूर्वपक्षियो की दृष्टि मे वही व्यक्ति कर सकता है जिसे व्याकरण का ज्ञान न हो।

समाधान—इस शब्द के प्रयोग मे यह उपयुक्तता है कि आचार्य मम्मट शब्दार्थ को एक भूत मानते थे। यद्यपि शब्द और अर्थ का भिन्न-भिन्न अस्तित्व है तथा इन दोनो की समष्टि को ही काव्य कहा जायेगा क्योकि अर्थ विहीन शब्द व्यर्थ होता है और शब्द-रहित अर्थ का भी काव्य की सज्ञा नही दी जा सकती है। अत काव्य के लिए शब्द और अर्थ दोनो की महत्ता सम्मिलित रूप मे होने के कारण ही न्यासन वृत्ति से इन दोनों को सम्बद्ध मानकर ही 'तत' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार शब्द और अर्थ दोनो दो होते हुए भी उनको एक ही माना गया है, तभी तो महाकवि कालिदास ने भी इसका समर्थन किया है।[3] और शब्द एव अर्थ की एक रूपता को मान लिया है। माणिक्यचन्द्र ने भी अपनी सकेत टीका मे कहा है

---

१ ध्वन्यालोक १/१३
२ सरस्वती कण्ठाभरण १/२
३ वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।

॥ रघुवंश महाकाव्य ॥

कि जसे दृश्य रूप म जाति एव व्यक्ति दोनो भिन्न प्रतीत होते हुए भी दोनो एक ही रहते हैं और एक के अभाव म दूसरे की स्थिति सम्भव नही है उसी प्रकार शब्द और अथ दोनो ही का याङ्ग के रूप म एक भूत हैं। एसी स्थिति मे शब्द और अथ के उस एकीभूत तत्व के लिए तत' शब्द का एक वचन म प्रयोग अनुपयुक्त नही कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि मम्मट जसा विद्वान और दाशनिक इस प्रकार की भूल कभी नही कर सकता है। इस शब्द क प्रयोग द्वारा मम्मट न इस रूप तत्व के शब्दाथमय स्वरूप पर ध्यान दिया है यही पर उनकी दाशनिक दृष्टि भी चरिताथ होती दिखाई पडती है और उसका स्पष्टीकरण इस तत' शब्द के द्वारा किया गया।

(3) आचाय मम्मट शिवाद्वतवादी थे और उनका यह अद्वत शकराचाय के अद्व त स भिन्नता रखता है। काश्मीरी होने क कारण शव दशन का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। शिवाद्व तवाद एक शुद्ध सत्ता द्व तवाद म विश्वास रखता है। इस स्पष्ट करन के लिए चन का उदाहरण देता है। जिस प्रकार चने मे पृथक-पृथक दो दालो की सत्ता होन हुए भी तात्विक रूप मे वे दोनो एक ही है अथात परात्पर शिव असण्ड और अद्वितीय है। इसी शिव तत्व मे शक्ति तत्व निहित रहता है। मम्मट भी इसी शिवाद्व तवाद स प्रभावित थे। अत उन्होने एक ही शब्द द्वारा इसे व्यक्त किया है तथा तत' शब्द क साथ अदोषौ शब्दाथौ और सगुणौ क प्रयोग का यही मुख्य कारण भी प्रतीत होता है। अत, उनका यह प्रयोग काश्मीरी शिवाद्व तवाद स प्रभावित होने स उचित हैं और उसम विश्वनाथ द्वारा कल्पित दोषो का निराकरण हो जाता है।

अदोषौ पद का प्रयोग— अदोषौ' पद के प्रयोग को भी लेकर आचाय विश्वनाथ ने इसका खण्डन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ मम्मट के काव्य लक्षण के प्रत्येक शब्द का खण्डन करने पर तुले हुय थे। उन्हें शायद यह नही मालूम था कि काव्य के स्वरूप का बताते हुए सभी आचार्यों ने—अग्निपुराण[१] वामन[२] हमचन्द्र,[३] विद्यानाथ[४] द्वितीय वाग्भट्ट,[५] जय

१ सक्षेपाद्वाक्य मिष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली।
काव्य स्फुरदलकार गुणवद दोषवर्जितम। अग्निपुराण

२ काव्य ग्राह्य अलकारात। सौन्दयमलकार। स गुण दोषालकार हानादानाभ्याम। वामन

३ अदोषौ सगुणौ सालकारौ च शब्दाथौ काव्यम्। हमचन्द्र

४ गुणालकार सहितौ शब्दाथौ दोषवर्जितम। विद्यानाथ

५ शब्दाथौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय सालकारौ काव्यम। द्वि वाग्भट्ट

देव,[1] आदि ने उसके निर्दोषता की बात कही है, और काव्य का निर्दोष होना उसके लक्षणो मे प्रमुख माना गया है। फिर भी इस पद को लेकर आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण मे मम्मटकृत काव्य लक्षण की छीछालेदर क्यों की है, यह समझ मे नही आता है।

विश्वनाथ का मत—आचार्य विश्वनाथ ने इस स्थान पर प्रयुक्त 'अदोषौ' पद का दो अर्थ ग्रहण किया है।

(१) काव्य मे दोष बिल्कुल ही न हो।

(२) उसमे दोष अधिक न हों।

इन दोनो अर्थों मे से किसी भी एक को ग्रहण करने पर मम्मट की परिभाषा अपूर्ण और दोषयुक्त हो जाती है। यदि इसका प्रथम अर्थ लिया जाय तो ध्वन्यालोक मे सत्काव्य के उदाहरण मे दिये गये श्लोक[2] के द्वारा अपने आप उसका खण्डन हो जाता है। इस श्लोक म 'विधेयाविमर्श' दोष के रहते हुए भी इसे सत्काव्य कहा गया है। अत 'काव्य' सज्ञा प्राप्त करने के लिए प्रथम अर्थ मे इसकी निर्दोषता नहीं मानी जा सकती है, अब अदोष पद का दूसरा अर्थ शेष रह जाता है। यदि इस अर्थ को ग्रहण करे कि काव्य मे दोष मान्य है परन्तु उनकी सख्या अधिक न हो—तो दो समस्याएँ उठ खडी होती हैं।

(१) प्रथम यह है कि दोषों की सीमा क्या हो अर्थात् कितनी सख्या तक के दोष काव्य मे क्षन्तव्य हैं। और द्वितीय प्रश्न यह उठता है कि यदि काव्य मे दोष की स्थिति मानी ही जाय—चाहे वह कम हों या अधिक तो पुन इस पद अदोषौ' के प्रयोग का कोई महत्व ही नही रह जाता है। जानबूझकर तो काव्य में कोई भी कवि अधिक दोष लाने की चेष्टा नही करता है।

समाधान—इस प्रसग म यह कहा जा सकता है कि या तो आचार्य विश्वनाथ मम्मट के अदोषौ' पद का भाव ग्रहण नहीं कर सके

---

१ निर्दोषा लक्ष्मवती सरीति गुणभूषिता।
सालकार रसानेक वृत्तिवाक् काव्यनामभाक ॥ जयदेव।

२ न्यक्कारो ह्ययमेव हि यदरयस्तत्राप्यसौ तापस।
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुल जीवत्यहो रावण।
धिग्धिक् शक्रजित प्रबोधितवता कि कुम्भकर्णेन वा।
स्वर्गग्रामटिका विलुण्ठन वृथोच्छूनै किमेभिर्भुजै ॥ ध्वन्यालोक

हैं अथवा जानबूझकर उन्होंने मम्मट का खण्डन करना चाहा है। इन दोनों में उनका जो भी विचार रहा हो, परन्तु मम्मट के विचार से दोष का अर्थ 'उद्देश्य प्रतीति प्रतिबन्ध' रूप ही माना गया है। उन्होंने बताया है कि मुख्यार्थ और रस मे बाधा पहुँचाने वाले को ही दोष कहा जाता है।[1] तात्पर्य यह हुआ कि जिससे रस की प्रतीति मे व्याघात उत्पन्न होता है, उसी को दोष कहा जाता है और इसी बात को आचार्य विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है अत आचार्य विश्वनाथ की इस आलोचना मे कोई सार नही प्रतीत होता है। और मम्मट का एक मात्र उद्देश्य रस म व्याघात उत्पन्न करने वाले दोषो मे ही रहा है। यदि इसके अतिरिक्त 'अदोषौ' पद का यह अर्थ लिया जाय कि उसम दोष बिल्कुल ही न हों तो ऐसी वस्तु तो सम्पूर्ण संसार म शायद ही प्राप्त हो सके। यदि काव्य मे दोषो का पूर्ण अभाव हो तो वह तो उत्तम काव्य होगा ही साथ ही यदि काव्य मे कुछ दोष हो भी परन्तु व दोष काव्य के सौन्दर्य का नाश न करते हों, तो ऐसी दशा म भी उसे काव्य की ही संज्ञा दी जायगी, अकाव्य की नही। अत काव्य के अदोष होने का अभिप्राय पूर्ण रूप से दोषो का अभाव न होकर केवल ऐसे दोषो के अभाव से है जो काव्यत्व के विघातक होते हैं और जिनसे रस प्रतीति म बाधा उत्पन्न हो जाती है। मम्मट के 'अदोष' पद का यही भाव है। अत आचार्य विश्वनाथ की आलोचना मे कोई सार नही दिखाई पडता है।

१ **शब्दार्थो शब्द का प्रयोग**—तत शब्द की व्याख्या म शब्दार्थो पद का समर्थन किया जा चुका है। इस पद के प्रयोग के सम्बन्ध मे आचार्य विश्वनाथ के स्थान पर आचार्य जगन्नाथ ने—जिनके अनुसार रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम् है—आपत्ति उठाई है। विश्वनाथ की आपत्ति केवल विशेषण भाग पर ही रही है परन्तु जगन्नाथ ने इस लक्षण म विशेष्य भाग शब्दार्थो पर अपनी असहमति प्रकट की है।

आचार्य जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को ही काव्य माना है।[2] इस प्रकार शब्द की महत्ता अर्थ की अपेक्षा अधिक मानी गयी है, यद्यपि यह शब्द रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला ही होता है। इस प्रकार अर्थ की सत्ता मानते हुए भी शब्द का ही प्रमुख स्थान रहा है।

---

१ मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्चमुख्य । का०प्र०

२ रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम । (रस-गङ्गाधर)

आचार्य जगन्नाथ का मत—अलंकारवादी सभी आचार्यों ने काव्य को केवल शब्दगत ही माना है और रसवादी आचार्यों ने इसे उभयगत माना है। आचार्य मम्मट रसवादी थे अतः इन्होंने शब्द और अर्थ दोनों में व्यापक वृत्ति से काव्य माना है। आचार्य जगन्नाथ इस विचार से भिन्नता रखते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में बताया है कि —

(१) व्यवहार में ऐसा सुना जाता है कि कविता पढ़ी, परन्तु समझ में नहीं आयी। इससे स्पष्ट है कि कविता और अर्थ में भिन्नता है। ऐसी दशा में उसे शब्द और अर्थगत मानना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि जब कविता अर्थ से भिन्न है, तो इसे अर्थगत तो कहा ही नहीं जा सकता है। कविता केवल शब्दगत ही हो सकती है।

(२) रस निष्पत्ति की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में होती है, उत्तम काव्य का लक्षण यही है कि उससे रसास्वादन हो। अतः काव्य को उभयगत मानना ही उचित है। आचार्य जगन्नाथ का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि ऐसी अवस्था में संगीत लहरी भी जो रसमयी होती है काव्य की परिधि में आ जायेगी, परन्तु इसे काव्य की संज्ञा नहीं दी जाती है, क्योंकि संगीत का प्रभाव अत्यधिक रूप में श्रवणेन्द्रिय तक ही रहता है हृदय तक उसकी पूर्ण पहुँच नहीं हो पाती है।

पण्डितराज के इस मत का खण्डन रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेश ने किया है।

नागेश का मत—इन्होंने बताया है कि लोक व्यवहार में यह कहा जा सकता है कि काव्य पढ़ा जाता है परन्तु इस पढ़े हुए काव्य में समझने का तत्व अर्थ ही होता है। अर्थात् शब्द को पढ़कर उसके अर्थ का हृदयङ्गम होना ही रसोत्पत्ति का साधन है। अतः जब समझने की वस्तु अर्थ ही है तो काव्य निश्चित रूप से उभयगत ही होगा केवल शब्दगत नहीं जैसा आचार्य जगन्नाथ मानते हैं।

महावैयाकरण पाणिनी ने अपने एक सूत्र में कहा है कि द्वितीयान्त से—उसे पढ़ता है या 'उसे जानता है'—इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।[1] इस सूत्र के अनुसार पढ़ना शब्दों का और जानना अर्थों का होता है। इस प्रकार उस सूत्र से भी व्यक्त है कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहे जाते हैं अर्थात् काव्य उभयगत होता है केवल शब्दगत नहीं होता है।

---

१ तदधीते तद्वेद ४/२/५९

पण्डितराज द्वारा दिए गए उपर्युक्त विरोध तर्क का खण्डन मम्मट के अनुयायियों ने किया है। इनके अनुसार काव्य का प्राण चमत्कार है। इस चमत्कार की उत्पत्ति अलंकार और रस दोनों से ही सम्भव है। यह चमत्कार व्यंजना का आधार लेकर रस दशा तक पहुँचता है। व्यंजना मूलक रस में शब्द और अर्थ दोनों का सहकारित्व माना जाता है।[1] इसी से शाब्दी और आर्थी नाम से व्यंजना मूलक ध्वनि के दो भेद किए गए हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि काव्य उभयगत होता है।

सगुणौ का प्रयोग—इस पद के प्रयोग में भी आचार्य विश्वनाथ ने आपत्ति उठाई है। उनके अनुसार सगुणौ पद उचित नहीं है। इसके स्थान पर 'सरसौ' पद ही उपयुक्त कहा जायगा। कारण यह है कि मम्मट रस को ही काव्यात्मा मानते थे। अतः अंग का उल्लेख न करके अंगी का ही उन्हें उल्लेख करना चाहिए और यही उनके लिए उचित भी था। ऐसी दशा में जब गुण को रस का अंग मान लिया जाता है तो वे ही गुण भला शब्द के अंग कैसे हो सकते हैं।

समाधान—इस मत का खण्डन प्रदीपकार नागोजी भट्ट के द्वारा किया गया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि—

(१) गुणों का प्रयोग मम्मट ने गुण व्यंजक शब्द के लिए ही किया है।[2]

(२) सगुणौ में प्रयुक्त द्वारा तीनों प्रकार के अर्थों-वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य का ग्रहण होता है और रस व्यंग्यार्थ में ही अन्तर्गत आता है। असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य रसादि ध्वनि को ही कहते हैं। अतः यदि सगुणौ के स्थान पर 'सरसौ' का प्रयोग कर दिया जाता तो काव्य की परिभाषा सीमित हो जाती और उसका वह अर्थ न निकलता जो मम्मट चाहते थे। इसलिए यहाँ पर 'सगुणौ' का प्रयोग सार्थक और साभिप्राय माना जायगा।

काव्य में 'सगुणौ' का प्रयोग करने वाले अन्य आचार्यों में अग्निपुराण, वामन, हेमचन्द्र, द्वितीय वाग्भट्ट और जयदेव आदि का नाम लिया जा सकता है, जिनका उद्धरण पिछले पृष्ठ पर दिया गया है।

---

१ (i) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता। का० प्र० ३/२३
(ii) अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः। का० प्र० २/२०

२ गुणपदं रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरमगुणपदम्। नागोजी भट्ट

(३) आचार्य मम्मट ने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को रसनिष्ठ माना है। ये शब्द और अर्थ के गुण नहीं माने जा सकते हैं। गुण जो निरसन्देह रस के अंग है परन्तु उस रस का ज्ञान शब्द और अर्थ के ही सहारे सम्भव होता है। अतः परम्परा सम्बन्ध से गुण को शब्द और अर्थ का भी विशेषण माना जा सकता है। सगुणौ का भाव यहाँ गुणाभिव्यंजक शब्द और अर्थ से है। मम्मट ने भी आगे चलकर कहा है कि गुणों का शब्द और अर्थ गत होना उपचारतः सिद्ध है, मुख्यतः नहीं।[1]

(४) आचार्य वामन का अर्थ गुण से शब्द और अर्थ के धर्म का बोध कराना था परन्तु मम्मट ने इसे रस का धर्म माना है। शब्द और अर्थ की सगुणता इसी रूप में मानी जा सकती है कि वे रसाभिव्यंजक होते हैं और ये गुण ही रस के धर्म रूप में अभिव्यक्त हुआ करते हैं।

(५) सगुणता के द्वारा रसादिरूप उत्तम काव्य के अतिरिक्त मध्यम और अधम काव्य भी ज्ञान इससे हो जाता है। उत्तम काव्य में रसाभिव्यञ्जक सामर्थ्य ही सगुणता से व्यक्त होती है परन्तु मध्यम और अधम काव्य में शब्दार्थ साहित्य की यह सगुणता औपचारिक ही है, क्योंकि वर्णों की कठोरता अथवा कोमलता आदि से ही आज अथवा माधुर्य गुणों की सृष्टि होती है। इस प्रकार मम्मट ने इस विशेषण द्वारा ध्वनिवाद में भी काव्य की परिभाषा को ही व्यक्त किया है। इस प्रकार ध्वनिवाद और रीतिवाद में सफल समन्वय का प्रयास मम्मट ने किया है और उनकी परिभाषा पूर्ण रूप से उचित कही जायगी।

अनलंकृती पुनः क्वापि—आचार्य मम्मट ने इस वाक्यांश के द्वारा स्पष्ट रीति से अपनी ध्वनिवादिता का परिचय दिया है। यदि वे केवल अलंकार की ही चर्चा करते तो वामनादि आचार्यों की कोटि में आ जाते। इसी से इन्होंने ऐसा कहा है कि ऐसी शब्द और अर्थमयी रचनाएँ भी काव्य के अन्तर्गत आती हैं जिनमें स्पष्ट रूप से कोई अलंकार योजना न होते हुए भी काव्य सौन्दर्य का अनुभव होता है।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने 'शब्दार्थौ' के इस विशेषण भाग पर भी आपत्ति उठाई है और कहा है कि अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूप में नहीं,

---

१ गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। का० प्र० ७/७१

२ क्वचित्तु स्फुटालंकार विरहेऽपि न काव्यत्व हानिः। का० प्र० १ वृत्ति भाग

अपितु काव्य के उत्कर्ष मे आवश्यक है। जयदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि जो अलकार शून्य शब्दार्थ का स्वीकार करता है, वह उष्णता रहित अग्नि को क्यों नही मानता।[1] जयदेव के इस मत का खण्डन वृत्ति भाग म ही कर दिया गया है। उसम स्पष्ट रूप से लिखा है कि अनलङ्कृति से तात्पर्य अस्फुट अलकारो से है—अलकारो की विहीनता से नही है।

नागोजी भट्ट ने जयदेव का खण्डन करते हुए कहा है कि जो लोग इस वृत्ति भाग का केवल वाच्यार्थ ही ग्रहण करते हैं, उनके अनुसार अनलङ्कृति का तात्पर्य स्फुट अलकारो के अभाव से है अलकार वादियो का यह कहना है कि रस के अभाव मे भी स्फुट अलकार रहने पर रचना को काव्य सज्ञा दी जायगी, परन्तु ध्वनिवादियो के अनुसार केवल अलकारो की उपस्थिति काव्य कहे जाने के लिए पर्याप्त नही है जब तक कि उसम कोई रस विशेष न हो। रस गगाधर म जगन्नाथ ने भी रस को ही काव्य का चमत्कार विधायक तत्व माना है, अलकार से भी एक वैचित्र्य उत्पन्न होता है, परन्तु रस का चमत्कार केवल अलकार जन्य चमत्कार से अत्यधिक उच्चकोटि का माना जाता है, क्योकि रस का प्रभाव और क्षेत्र दोनो ही अपेक्षाकृत व्यापक होता है। अत अलकार गत चमत्कार के अभाव म भी केवल रसगत चमत्कार से ही काव्य की सज्ञा किसी रचना को प्राप्त हो सकती है। ध्वनिकार आनन्दवधन ने भी इसका समर्थन किया है कि अलकार से रहित रस गुण युक्त रचना भी काव्य कही जा सकती है। अर्थात रस सम्पन्न काव्य स्वय ही आनन्द प्रद होता है अत उसमे अलकारो की स्थिति आवश्यक नही है।[2]

प्रदीपकार नागोजीभट्ट का भी यही मत है कि अस्फुट अलकार से युक्त रचना भी किसी परिस्थिति म अर्थात रस की स्थिति काल म काव्य कही जा सकती है। अत स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता अलकारो मे न होकर केवल रस तत्व म ही है। यदि रस के सग अलकारो का भी चमत्कार हो तब तो और भी अच्छा माना जायगा। इसी आधार पर वामनाचार्य झलकीकर ने अपनी बालबोधिनी' टीका म यह निष्कर्ष निकाला है कि काव्य से सम्बन्धित छ अवस्थायें होती हैं—

---

१ अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती। जयदेव

२ अतएव रसानुगुणार्थ विशेष निबन्धनमलकार विरहेऽपि छायातिशय पुष्णाति। ध्वनिकार।

(१) सरस स्फुटालंकार सहितम् (२) सरसमस्फुटालंकार सहितम् ।
(३) सरसमलंकार शून्यम् (४) नीरस स्फुटालंकार सहितम् ।
(५) नीरसमस्फुटालंकार सहितम् (६) नीरसमलंकार शून्यम् ।

मम्मट के अनुसार प्रथम चार अवस्थायें ही काव्य के अन्तर्गत आ सकती हैं और अन्य दो नहीं ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मम्मट ने जो शब्द और अर्थ को यथा स्थान अथवा यथासम्भव अलंकृत होने का सिद्धांत माना है वह रस रूप अलंकार्य की मान्यता से सम्बद्ध है । अलंकारों से चारुत्व का उत्कर्ष होता है, परन्तु यह उत्कर्ष रस रूप अलंकार्य का ही होता है । इसी से मम्मट ने अलंकृति पुनः क्वापि' कहा है । शब्दों एवं अर्थों के लिए जिस समुचित अलंकृतता की बात कही गई है वह उसके स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध रस रूप अलंकार्य से ही है । अर्थात् अलंकार शब्द और अर्थ के चारुत्व विधायक न होकर रस भावादिरूप अलंकार्य के ही चारुत्ववर्धक हैं । अतः सम्पूर्ण रूप में मम्मट के इस काव्य लक्षण में उनके ध्वनि सिद्धांत का सार है और उन्होंने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के चिन्तन का लाभ उठाया है ।

मम्मट द्वारा दिया गया उदाहरण—मम्मट द्वारा दिये गये अस्फुटालंकार युक्त उदाहरण[१] के सम्बन्ध में भी विश्वनाथ ने आपत्ति की है । इस उदाहरण में एक प्रणय प्रताड़िता स्त्री की अपनी सखी के प्रति उक्ति है जिसमें उसने अपने पूर्व परिचित प्रियतम के प्रति अनुराग भाव को व्यक्त किया है । साहित्य चूड़ामणि टीका के अनुसार वह स्त्री अपने वर्तमान पति से विवाह के पूर्व ही अभिसरण कर चुकी थी, परन्तु डा० गंगानाथ झा और डा० हरदत्त शर्मा ने इसे भारतीय संस्कृति के विपरीत बताते हुये इस अर्थ का समर्थन नहीं किया है ।

इस उदाहरण में कुछ टीकाकारों ने अस्फुट उपमा और रूपक माना है कुछ ने 'इव' शब्द के अभाव में दोनों अलंकारों की स्थिति का समर्थन नहीं किया है । कुछ 'अस्मि' शब्द को कई वाक्यांशों के साथ जोड़कर दीपक अलंकार मानते हैं परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अस्मि का प्रयोग यहाँ क्रिया के रूप में न होकर 'अव्यय' के रूप में हुआ है । यदि इसका प्रयोग क्रिया

---

[१] यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा,
ते चोन्मीलित मालती सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार लीलाविधौ
रेवा रोधसि वेतसीतरुतले चेतःसमुत्कण्ठते ॥

मे रूप म माने तो भी यहाँ 'दीपक' अलकार नही हो सकता है, क्योकि 'दीपक' मे कुछ पदार्थ प्रकृत और कुछ अप्रकृत पदार्थ होते हैं। साथ ही दीपक' मे दो या अधिक वस्तुओ का समानता भी व्यक्त रहती है[1]। तुल्य योगिता भी नही मानी जा सकती है। एक ही कार्य के बहुत से कारणो के न होने से यहाँ समुच्चय भी नही हो सकता है। डा० हरदत्त शर्मा ने यहाँ विभावना और विशेषोक्ति नामक अस्फुट अलकारो की स्थिति मानी है। अस्फुट अलकार म रस की चमत्कार मूलक स्थिति रहने के कारण ही मम्मट ने इसे उदाहरण के रूप म उपस्थित किया है। इसम एक प्रेमिका के मन स्थिति का ऐसा चित्रण किया गया है, जो रसपूर्ण है और रसानुभूति म कोई कमी नही आने देता।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' म इस श्लोक को दोषपूर्ण माना है और कहा है कि यद्यपि इसम विभावना और विशेषोक्ति अस्फुट रूप मे है फिर भी इन दोनो के सयोग से सदेह सकर अलकार स्फुट रूप म दिखाई पडता है, अत अनलकृति के रूप मे इस उदाहरण को प्रस्तुत करना अनुचित है। दूसरे लोगो ने इसम रसवद् अलकार माना है, किन्तु इसम स्पष्ट रूप से विप्रलम्भ शृ गार होने के कारण रसवद् अलकार भी नही माना जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'अनलकृती' शब्द की भी आलोचना की है। उनके अनुसार इस पद क प्रयोग द्वारा मम्मट ने काव्य मे अलकारो की स्थिति को आवश्यक माना है। कारण यह है कि अस्फुट अलकार स युक्त रचना को तो सत्काव्य माना ही गया है और चमत्कार विधायक होने के कारण स्फुट अलकार स युक्त रचना तो और भी अधिक सत्का य की श्रेणी मे आ जायगी। निर्णय यह निकला कि ऐसी दशा म अलकार काव्य का आवश्यक तत्व हो जाता है। साथ ही सामान्य पुरुष क सग आभूषणो की सगति की भाँति वाङ्मय पुरुष स अलकारो की सगति को भी विश्वनाथ ने आवश्यक माना है। इस प्रकार दो विरोधी उक्तियाँ के कारण परस्पर दोनो में असगति और विरोध उपस्थित हो जाता है। इस तर्क का उत्तर देते हुए टीकाकारो ने कहा है कि "मम्मट गुण और अलकार दोनो को रस का उत्कर्षक मानते थे। अन्तर केवल इतना है कि गुण उसके साक्षात् उत्कर्षक होते हैं और अलकार असाक्षात् इसका अर्थ यह हुआ कि अलकारो की रस के साथ अचल स्थिति नही होती। रस वाले काव्य मे अलकार कभी तो रस के साथ रहकर रस का उत्कर्ष करता है और कभी रस का उत्कर्ष नही भी करता। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि रसहीन काव्य सद् काव्य कहलायेगा।

---

१ वर्ण्यानां वर्णनीयानां धर्मैक्यं दीपकं बुधा। कुवलयानन्द पृ ५६

वास्तविकता तो यह है कि "मम्मट की अलंकार दृष्टि में ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अलंकार स्वरूप भलक रहा है। इसीलिए 'यथासंभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता ही काव्य साहित्य की सालङ्कारिता' के रहस्य के रूप में प्रकट हो रही है।"[1] यद्यपि इस उदाहरण में कवि ने अलंकार की स्फुट योजना नहीं की है तथा मम्मट ने भी इसी रूप में इसे प्रस्तुत किया है, फिर भी यदि आलोचक गण इसमें विभिन्न अलंकारों को देखने की चेष्टा करते हैं तो भी इसमें कोई महत्व नहीं रहता, क्योंकि इसमें कवि की किसी भी प्रकार अलंकारों के व्यक्त करने की भावना नहीं थी, वह तो रसानुभूति की एक मानसिक स्थिति को ही उपस्थित करना चाहता था और उसमें वह पूर्ण रूप से सफल भी हुआ है। अतः जिन प्राचीन आलंकारिकों ने इस उदाहरण को अलंकारों की परिधि में रखने का निरर्थक प्रयास किया है उसे केवल उनकी हठवादिता ही कही जायेगी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि यह पद्य रस दृष्टि से सफल उतरा है यही कवि की आकांक्षा भी थी। अतः अलंकारों की चिन्ता की कोई बात ही नहीं उठती है। मम्मट ने 'अन लङ्कृती पुनः क्वापि'। लिखकर प्राचीन काव्य तत्वों की मान्यताओं को व्यावहारिक रूप दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य की सृष्टि सहृदय की दृष्टि में रसानुभूति के लिये ही होती है, तथापि विश्वनाथ के काव्य स्वरूप 'वाक्य रसात्मक काव्य" को ही सब कुछ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसकी सीमा केवल सहृदय की दृष्टि तक ही रहने के कारण संकुचित हो जाती है। अतः हम निस्संकोच कह सकते हैं कि मम्मट द्वारा दी गई इस परिभाषा में मम्मट की दृष्टि सदा काव्य में रस दृष्टि और रसानुभूति पर ही केन्द्रित रही है, जो उनके द्वारा मान्य मत की परिचायिका एवं ध्वनि सम्प्रदाय की समर्थिका है।

[1] काव्य प्रकाश की हिन्दी टीका भूमिका भाग पृ० २८-२९ डा० सत्यव्रत सिंह

काव्य के भेद

आचार्य मम्मट ने मुख्य रूप से काव्य को तीन भेदों में विभाजित किया है। उनका यह वर्गीकरण ध्वनिवाद के अनुकूल है।

(१) उत्तम अथवा ध्वनि काव्य।

(२) मध्यम अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य।

(३) अवर अथवा चित्रकाव्य।

उत्तम अथवा ध्वनि काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए मम्मट ने कहा है कि वह काव्य जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कार युक्त हो, उसे काव्य तत्त्व दर्शी लोगों ने ध्वनि काव्य कहा है।[1] 'इदम्' पद की व्याख्या के लिये इस सूत्र में दिये गये विभिन्न शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम 'इदम्' शब्द विद्वानों के विभिन्न विचारों का आधार बना हुआ है। 'इदम्' पद काव्य का परामर्शक है और काव्य शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है। इसी आधार पर लोगों की यह धारणा है कि यह पद कभी 'ब्रह्मत्व' का वाचक रहा होगा "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" में कवि शब्द परमेश्वर के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा और इसी कवि शब्द से काव्य का निर्माण प्रतीत होता है। अतः यह भेद ब्रह्मत्व का वाचक हो सकता है और ब्रह्म शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता रहा है। इस प्रकार का तर्क देना कुछ अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता है इसे केवल वितर्क मात्र कहकर मौन हो जाना ही अधिक उपयुक्त है।

उत्तम शब्द से मम्मट का अभिप्राय श्रेष्ठ काव्य से रहा है। इसी श्रेष्ठ काव्य को ध्वनि काव्य कहा गया है। आगे चलकर पुनः कहा गया है कि "वाच्यात् व्यङ्ग्य अतिशायिनि" अर्थात् इस प्रकार के काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कार जनक होता है। शब्द की तीन शक्तियों में से व्यञ्जना का ही सम्बन्ध इस उत्तम काव्य से रहता है। यह व्यञ्जना शक्ति अभिधा अथवा लक्षणा की अपेक्षा प्रधान होती है। इसी से इस शक्ति द्वारा गम्य व्यङ्ग्यार्थ रूप काव्य को ही उत्तम काव्य अथवा 'ध्वनि-काव्य' कहा जाता

---

१ इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः। का० प्र० उ० १

है। ध्वनिकार ने भी इसका समर्थन किया है कि "जहाँ शब्द और अर्थ अपने अभिप्राय अथवा स्वरूप को गौण करके उस वाच्य को व्यंजित करते हैं, उसे ध्वनि काव्य कहा जाता है।"[१]

आचार्य मम्मट ने भी अपने वृत्ति भाग में ध्वनि का स्पष्टीकरण किया है इसमें वैयाकरणों के स्फोटवाद की बात अधिक बल के साथ कही गई है। उन्होंने उपर्युक्त सूत्र का इस रूप में स्पष्टीकरण किया है कि "यहाँ पर 'इदम्' का अभिप्राय काव्य से है और 'ध्वनि' का अभिप्राय उस शब्द अथवा वर्ण समुदाय से है जो वैयाकरणों के प्रधानभूत स्फोट रूप व्यङ्ग्य का व्यंजक होता है। इसी मत का अनुसरण करने वाले आलंकारिकों ने इसे ध्वनिनाम दिया है जिसमें वाच्यार्थ दबा रहता है और इसमें शब्दार्थ युगल व्यंग्यार्थ को ध्वनित करने में समर्थ होता है।"[२] इस वृत्ति भाग में मम्मट ने 'स्फोट' शब्द का प्रयोग किया है। पारिभाषिक होने से इसका स्पष्टीकरण कर देना अनिवार्य है।

स्फोट—रूप ब्रह्म का स्पष्टीकरण लगभग सभी विद्वानों ने किया है, विशेषतः नैयायिक मीमांसक और वैयाकरणों की दृष्टि इसमें अधिक रमी है इतना तो सभी मानते हैं कि शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है, परन्तु इस वाचकता का अधिष्ठान क्या है इस सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों में मतभेद हैं।

वाचकता का अधिष्ठान

नैयायिकों का मत—संस्कार वादी इन नैयायिकों ने बताया है कि अंतिम ध्वनि की अनुभूति ही शब्दों की अनुभूति से उत्पन्न संस्कार के साथ अर्थ प्रकट करती है अर्थात् प्रत्येक शब्द के उच्चारण के साथ ही उन शब्दों की अनुभूति से हृदय पर एक संस्कार बन जाता है। जब हम किसी वाक्य के अन्तिम शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उसके द्वारा निर्मित संस्कार के साथ पूर्व संस्कारों के समन्वय से उस वाक्य का पूर्ण अर्थ बोध हो जाता है। नैयायिकों ने वर्ण को अनित्य माना है। अतः वे आशु विनाशी होते हैं। उच्चारण करने के साथ

१ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।। ध्वन्यालोक १/१३

२ इदमिति काव्यं बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यंजनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।। का० प्र० उ० १ वृत्तिभाग।

ही उन ध्वनियों का नाश हो जाता है ऐसी दशा में उन ध्वनियों से अर्थ का बोध कराने के लिए इन लोगों के लिए आवश्यक हो गया था कि एक ऐसे साधन की कल्पना करते, जिससे अर्थ बोध सम्भव होता। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन लोगो को 'संस्कार' की कल्पना करनी पड़ी। वर्ण तो अनित्य और आशु विनाशी होते हैं। अतः उच्चरित होने के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और उच्चरित होने पर केवल ध्वनि ही संस्कार रूप में शेष रह जाती हैं। इनमें अन्तिम संस्कार पूर्व संस्कार से सम्बद्ध होकर ही विशेष अर्थ का प्रतिपादन कर पाता है।

वैयाकरणों का मत—वैयाकरणों ने नैयायिकों के इस मत को दोषपूर्ण माना है, इन दोनों की मूल मान्यताओं में ही अन्तर है। नैयायिकों ने जहाँ वर्ण को भाषा की इकाई माना है वहाँ वैयाकरणों के अनुसार वाक्य ही भाषा की इकाई है। वर्णों का संस्कार धूमिल रहता है। अतः उससे पूर्ण रूप से अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता है, अपितु वाक्य की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के ऐक्य विधान से ही अर्थ ज्ञान सम्भव है। वैयाकरणों के सिद्धान्त को ही 'स्फोटवाद' का नाम दिया गया है।

'स्फुटति अर्थ यस्मात् स स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ का स्फुरण हो उसे स्फोट कहा जाता है। इसके आठ भेद किये गये हैं। इनमें 'पद स्फोट' पदार्थ का और 'वाक्यस्फोट' वाक्यार्थ का बोधक होता है। किसी पद से जिस अर्थ का बोध होता है उसका कारण ध्वनि द्वारा व्यक्त मानस स्फोट ही है। सुनाई पड़ने वाली ध्वनियाँ नाशवान् और क्षणिक होने से नष्ट हो जाती हैं। ऐसी दशा में वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न ध्वनियों में अर्थ-बोध के लिए स्फोटवाद का आधार ग्रहण करके कहा गया है कि पूर्व-पूर्व ध्वनियों के श्रवणजन्य अनुभव से एक मानसिक संस्कार उत्पन्न होता है। इसी संस्कार से युक्त होकर अन्तिम ध्वनियों के संस्कार एक मानसिक पद की प्रतीति कराते हैं। यही पद प्रतीति पद स्फोट कहा जाता है जिससे अर्थ का ज्ञान होता है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व-पदानुभव जनित संस्कार सहकृत अन्त्य पद श्रवण से सदसद् अनेक—पदावगाहिनी मानसी वाक्य प्रतीति होती है।"

मीमांसकों की अर्थ-बोध कराने वाली प्रक्रिया नैयायिकों जैसी ही है। इनके अनुसार वर्ण में नित्यता रहती है और वे ध्वनियों से व्यक्त होते रहते हैं। वर्णों के नित्य होने से उनकी एकता अपने आप सिद्ध हो जाती है। वैयाकरणों ने वर्णों की अनुभूति को क्षणिक बताया है। अतः इनके मत से वर्णों की एकता सम्भव नहीं है।

स्फोटवाद का प्रतिपादन करते हुए वाक्यपदीप मे कहा गया है कि हमारे मुख स जो बखरी वाणी निकलती है उसकी इकाई वाक्य है। वह वाक्य अनेक तदनुरुप भाषण वर्णों व ध्वनियो का आवरण धारण कर व्यक्त होता है। वाक्य की उत्पत्ति स्फोट आत्मा से होती है। यह स्फोट आत्मा ध्वनि द्वारा व्यक्त होती है। ध्वनि नित्य तथा अभेद्यवाचक है वण अनित्य माना जाता किन्तु उनसे उद्भूत ध्वनि या शब्द अमर होता है। उसी ध्वनि को स्फोट कहते हैं। स्फोट वास्तव मे अद्वैत और अखण्ड रूप है, किन्तु उपाधिभेद से स्फोट अनेक भाषा ध्वनियो मे व्यक्त होता है। ध्वनि या नाद सवप्रथम आत्मा मे उत्पन्न होता है यही ध्वनि बुद्धि प्राणादि म होती हुई स्थूल अगों मे अभिव्यक्त होती है, क्योंकि ये स्थूल अग विविध प्रकार के है। अत वाणी भी भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। वण के नष्ट हो जान पर यह ध्वनि अमर हो जाती है। 'वाक्यपदीयकार' ने इसी भाव की अभिव्यक्ति निम्नलिखित श्लोक मे की है—

तस्य प्राणे च या शक्ति या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवतमानास्थानेषु सपा भेद प्रकाशते ॥"

उदाहरण—मम्मट न ध्वनि अथवा उत्तम काव्य के सम्बन्ध म जो श्लोक उदाहरण[1] के रूप मे लिया है उसके सम्बन्ध मे 'पदीपकार' ने बताया है कि इसमे कुछ लोग विपरीत लक्षण मानते हैं। उनके अनुसार 'तुम मेरे पति के साथ ही रमण करने गयी थी' यह अथ विपरीत लक्षणा से ही प्राप्त होता है। इन लोगो का कहना है कि जब काव्य प्रकाश के दूसरे उल्लास के सातवें उदाहरण[2] मे विपरीत लक्षणा है तो विषय साम्य से इसम भी विपरीत लक्षणा ही होनी चाहिए। परन्तु इस मत के विरोधियो का ऐसा विचार है कि विपरीत लक्षणा से इस श्लोक के अथ मे कुछ परिवतन होकर इस प्रकार होगा कि 'तुम मेरे पति के पास गयी थी'। ऐसी दशा म अधम पद का महत्व नही रह

---

१ निःशेषच्युत चन्दनस्तनतट निम ष्ट रागोऽधरो—
नेत्रे दूरमनञ्जन पुलकिता तन्वी तवेय तनु।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धव जनस्याज्ञात पीडागमे
वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।
का० प्र० उ० १ उदाहरण २

२ साधयन्ती सखि सुभग क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भाव स्नेह करणीय सदृक्ष तावद्विरचितत्वया॥
का० प्र० २/उदाहरण ७

जाता है और यह केवल उपहास का सूचक मात्र रह जाता है। अर्थात् "अधम प्रकृति वाले नायक का उपहास करने ही गयी था" यह अर्थ होगा। प्रदीपकार का मत है कि इससे अधम जाति के अभिजात कुल की दासी के साथ अभिसार करने का बोध होता है और उसकी अभिव्यक्ति ध्वनि से ही सम्भव है जो 'अधम' पद के प्रयोग से ही ध्वनित होता है। अत यह ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

ध्वनिकाव्य के भेद

ध्वनिकाव्य के भेदों की चर्चा करते हुए आचार्य मम्मट ने उसके दो प्रमुख भेद किये है —

१ अविवक्षित वाच्य ध्वनि अथवा लक्षणा मूला ध्वनि।

२ विवक्षित वाच्य (विवक्षितान्यपरवाच्य) अथवा अभिधामूला ध्वनि। इन दोनों का क्रमश वर्णन किया जायगा।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि[1] अथवा लक्षणा मूला ध्वनि मे वाच्य विवक्षित नही होता है। इसमें ध्वनि का आधार लाक्षणिक शब्द ही रहता है। अत मुख्यार्थ, बाध, उद्योग और रूढ़ि या प्रयोजन म स अन्यतर का होना आवश्यक होता है। इस ध्वनि म लक्षणामूल गूढ़ व्यग्य की प्रधानता होती है तथा वाच्य अविवक्षित रहता है। इस ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। प्रथम अर्थान्तर सक्रमित और द्वितीय अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

अर्थान्तर सक्रमित म प्रयुक्त पदो का वाच्यार्थ नही लगता है और उसके अनुपयुक्त होने से ही वह दूसरे अर्थ म सक्रमण कर जाता है। इसम लक्षणा को हम मान सकते हैं। उसमे भी परार्थ के लिये अपने अर्थ का समर्पण कर लिया जाता है।[2] मम्मट द्वारा दिये गये उदाहरण[3] म 'त्वां' 'वच्मि' 'अहम्' 'असिम' आदि पदों का प्रयोग भी दूसरे अर्थ मे सक्रमण कर जाता है।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि म प्रसगादि के आधार पर वाच्यार्थ के अनुकूल अर्थ की सगति नही बैठती है। अत शब्दों का जो सामान्य अर्थ होता है उसे छोड़कर उन्हीं शब्दों स सम्बद्ध किसी विशेष अर्थ का बोध हो जाता

---

१ अविवक्षित—वाच्यो यस्तत्र वाच्य भवद्ध्वनौ।
अर्थान्तर सक्रमितमत्यन्त वा तिरस्कृतम ॥ का० प्र० ४/२४

२ का० प्र० २/१०

३ का० प्र० उल्लास ४ उदाहरण २३

है।। दिये गये उदाहरण[1] मे प्रयुक्त 'उपकृत', 'सुजनता', 'इदृशमेव', 'सुखित-मास्व', शरदाशतम् आदि पदो का वक्ता और बोद्धा के कथन के अनुसार वाच्यार्थ उचित नही बरता है। अत लक्षणामूलाध्वनि के इस भेद मे विपरीत लक्षणा का सहारा ग्रहण किया जाता है। इससे प्रयुक्त शब्दो का अथ प्रचलित अथ से विपरीत अथवा उल्टा अथ लगता है। इस प्रकार वाच्य अथ पूण रूप से तिरस्कृत हो जाता है। कहने के ढग या कण्ठ की ध्वनि से भी इस प्रकार के काव्यों का बोध हो जाता है। जसे उपयु क्त उपकृत आदि शब्दो का पूण रूप से उल्टा अथ होकर अपकृत' आदि हो जायगा।

अभिधामूलाध्वनि —इसी को विवक्षित वाच्य ध्वनि भी कहा जाता है क्योंकि इसमें वाच्याथ की भी विवक्षा बनी रहती है। इसके दो भेद असलक्ष्य क्रम व्यग्य और सलक्ष्य क्रम व्यग्य होते हैं।

असलक्ष्य क्रम अभिधामूला व्यग्य ध्वनि को ही रसादि ध्वनि कहा जाता है। इसके बहुत से अवान्तर भेद हो सकते हैं, परन्तु उनकी अनन्तता के कारण सबकी अलग-अलग गणना न होकर केवल उसका एक ही भेद 'रसादि ध्वनि' माने जाने की परम्परा रही है। इसी को असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि भी कहते हैं। अर्थात् इसमे वाच्य और य य अथ का एक क्रम रहता है परन्तु दोनो अर्थों का बोध इतनी शीघ्रता से होता है कि उसके क्रम का ज्ञान नहा होने पाता। सवप्रथम विभावादि की प्रतीति होती है इसके बाद ही रसानुभूति सभव है। इस प्रकार इन दोनों की प्रतीति मे पूर्वापर का क्रम बना रहता है परन्तु यह क्रम कमलशत पत्रभेदन, के समान हो रहता है। अर्थात जसे कमल के सौ पत्तो को रखकर सुई से उनका भेदन किया जाय तो सुई क्रम से एक एक पत्ते को भेदती चली जाती है, परन्तु उसका भान हमे नही होने पाता है, उसी प्रकार रसानुभव मे विभावादि का क्रम रहता है परन्तु उसका भान नहीं हो पाता। इसी से इसे असलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि कहते हैं। भाव यह है कि विभावानुभावादि ही रस नही हैं अपितु वे ही रसानुभूति के कारण हैं[2] परन्तु शीघ्रता के कारण उनका अनुभव नही होने पाता। इस असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि मे रस भाव रसाभाव, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भाव शबलत्व और भावशान्ति की प्रधानता रहती है। यदि इनकी प्रधानता न रहे अथात ये अगी न होकर वस्तु या अलकारादि के अग बन जायें तो ऐसी दशा में इनकी ध्वनि सज्ञा न होकर

१ का० प्र० उ० ४ उदाहरण सख्या २४

२ नन्तु विभावानुभाव व्यभिचारिण एव रस अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रम सनु लाघवान्न लक्ष्यते। का० प्र० उ० ४ वृत्ति भाग

गुणीभूत व्यंग्य संज्ञा हो जाती है जिसे काव्य का 'मध्यम' प्रकार कहते हैं।
ध्वनिकाव्य में रसादिध्वनि ही प्रमुख होती है। मम्मट ने आठ रसों[1] एवं आठ स्थायी भावों[2] का ही वर्णन किया है और इन्हीं आठों को नाट्य रस कहा है। बाद में निर्वेद स्थायीभाव और शान्तरस की भी चर्चा की गयी है परन्तु इसे नाट्य रस नहीं माना गया है।[3]

अभिधामूला ध्वनि का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि है इसी का दूसरा नाम 'अनुस्वानाभ ध्वनि' भी है। इस अनुस्वानाभ या संलक्ष्य क्रम ध्वनि के तीन भेद शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ–किये गये हैं।[4] इस ध्वनि में क्रम का ज्ञान बना रहता है। इसी से इसे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं।

शब्द शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम अभिधामूल व्यंग्य ध्वनि में दो भेद किये गये हैं। अर्थात् जहाँ शब्द से वस्तु अथवा अलंकार प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं, वह दो प्रकार का शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि[5] होता है। इन्हें क्रमशः वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि कहा जाता है। इन दोनों के उदाहरण क्रमशः 'काव्य प्रकाश' के चतुर्थ उल्लास के ५८वें और ५४–५८वें श्लोक हैं। वस्तु ध्वनि में एक ऐसी वस्तु का ज्ञान होता है जिसमें अलंकार न हो। और अलंकार ध्वनि में अलंकार ही व्यंग्य रूप में उपस्थित किया जाता है। इसमें व्यंग्य अर्थ अलंकार रूप नहीं अपितु सदा 'अलंकार्य' ही होता है फिर भी उसको ब्राह्मण श्रमण न्याय से अथवा भूतपूर्व न्याय से अलंकार कहा जा सकता है। इसे गौण या औपचारिक व्यवहार कहते हैं। इसी कारण से प्रधानता के कारण जब अलंकार ही अलंकार्य बन जाता है, तो ऐसी दशा में भी उस पूर्व रूप के कारण अलंकार ही कहा जा सकता है।

अर्थ शक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रम अभिधामूलाध्वनि के बारह भेदों की चर्चा काव्य प्रकाश कार ने की है। इनमें सर्वप्रथम कवि ने तीन भेद किये हैं—

---

१ का० प्र० ४/२९
२ का० प्र० ४/३०
३ का० प्र० ४/३५ पृ० १३८
४ अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।
का० प्र० ४/३७–३८
५ का० प्र० ४/३८–३९

(१) स्वत सम्भवी (२) कविप्रौढोक्ति सिद्ध

(३) कवि निबद्धवक्त प्रौढोक्ति सिद्ध।

इन तीनों के पुन दो दो भेद 'वस्तु ध्वनि' और 'अल्कार ध्वनि किये गये हैं और इस प्रकार इनके छ भेद हो जाते हैं। पुन व्यग्य और व्यन्जक उपभेद से इन छहों के बारह भेद हो जाते हैं।[१] जो निम्नलिखित प्रकार से समझाये जा सकते हैं —

[१] स्वत सम्भवी —

(१) वस्तु से वस्तु व्यग्य (२) वस्तु से अल्कार व्यग्य
(३) अलकार से वस्तु व्यग्य (४) अल्कार से अल्कार व्यग्य

[२] कवि प्रौढोक्तिसिद्ध —

(१) वस्तु से वस्तु व्यग्य (२) वस्तु स अल्कार व्यग्य
(३) अल्कार स वस्तु व्यग्य (४) अलकार से अलकार व्यग्य

[३] कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति —

(१) वस्तु स वस्तु व्यग्य (२) वस्तु स अल्कार व्यग्य
(३) अल्कार से वस्तु व्यग्य (४) अल्कार से अल्कार व्यग्य

इन तीनो प्रमुख भेदो म जो अथ शक्ति स उद्भूत होते हैं, स्वत सम्भवी व्यञ्जक अथ लोक म पाया जाने वाला होता है। इसम केवल कवि का कथन मात्र ही नही रहता है। दूसरे प्रकार का अथ यद्यपि लोक मे नही पाया जाता है, फिर भी कवि की प्रतिभा द्वारा निर्मित होता है। इसे कवि प्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध वक्ता के द्वारा प्रौढोक्ति को प्राप्त अर्थात लोक म न पाये जाने पर भी केवल कवि कल्पना से काव्य म वर्णित अथ तीसरे प्रकार का होता है। इनमे स्वत सम्भवी के चार उदाहरण श्लोक ६० ६३ तक कवि प्रौढोक्ति सिद्ध के चार उदाहरण ६४ ६७ तक और कवि निबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध क चार उदाहरण ६८ ७१ श्लोक मे काव्य प्रकाश के चतुथ उल्लास म दिये गये हैं। इस प्रकार अथ शक्त्युत्थ सलक्ष्यक्रम के बारह भेद होते हैं।

उभय शक्त्युत्थ सलक्ष्य क्रम का केवल एक ही भेद माना जाता है। इस प्रकार आरम्भ क सभी भेदो को मिलाकर ध्वनि के १८ भेद हो गये।

ध्वनि के सम्पूर्ण भेद — ऊपर बताया जा चुका है कि लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद अर्थान्तर सक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत तथा अभिधामूला

---

१ का० प्र० ४/३६–४०–४१

ध्वनि के सोलह भेद—१ असंलक्ष्य क्रम और १५ संलक्ष्य क्रम (२ भेद शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि के, १२ भेद अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के और १ भेद उभय शक्त्युत्थ ध्वनि के)। ये सब मिलकर ध्वनि काव्य के कुल अठारह भेद हो गये। इन अठारह ध्वनि भेदों को और अधिक विस्तार करके इनकी कुल संख्या ५१ मानी गयी है।

ध्वनि-भेद

- अविवक्षितवाच्य ध्वनि (लक्षणा मूला)
  - अर्थान्तर संक्रमित
  - अत्यन्त तिरस्कृत
- विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि (अभिधामूला ध्वनि) (१६ भेद)
  - असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य (रसादि ध्वनि) (१ भेद)
  - संलक्ष्य क्रम व्यंग्य (अनुरणन रूप ध्वनि) (१५ भेद)
    - शब्दशक्त्युत्थ (२) भेद
      - वस्तु ध्वनि
      - अलंकार ध्वनि
    - अर्थशक्त्युत्थ (१२ भेद)
      - स्वतः सम्भवी
        - वस्तु
        - अलंकार
      - कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध
        - वस्तु
        - अलंकार
      - कवि निबद्ध वक्ता प्रौढ़ोक्ति सिद्ध
        - वस्तु
        - अलंकार
    - उभयशक्त्युत्थ (१ भेद) (केवल वाक्य गत)

[illegible]

उपयुक्त १८ भेदो में उभयशक्त्युत्थ ध्वनि केवल वाक्य गत होती है। शेष १७ भेदो में से प्रत्येक पद गत एवं वाक्यगत भेद से ३४ प्रकार की हो जाती है। इनमें अर्थशक्त्युत्थ भेदो की स्थिति प्रबन्ध में भी होने से इनके १२ भेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के पदांश वर्ण, रचना तथा प्रबन्धगत होने से चार भेद और हो जाते हैं। इस प्रकार सब की संख्या १+३४+१२+४=५१ हो जाती है। अर्थात् ध्वनि अथवा उत्तम काव्य के ५१ भेदो की चर्चा मम्मट ने की है। जिसे ऊर्ध्वनिमित तालिका से समझा जा सकता है।

इस रीति से लक्षणा मूला के २ भेद और अभिधामूला के १५ भेद (उभयशक्त्युत्थ को छोडकर जो केवल वाक्य गत होता है)=१७ भेदो के पद गत और वाक्यगत होने से कुल १७× =३४ भेद रसादिध्वनि के तथा अर्थशक्त्युत्थ के १२ भेद प्रबन्धगत होने से और बढ जाते हैं। अतः ३४+१२+१=४७ भेदो में पदांश, वर्ण रचना और प्रबन्ध गत होने से ४ भेद और मिलकर कुल ध्वनि के ये ५१ भेद हैं। वैसे गणना के रूप में इनकी संख्या कई हजार तक पहुँच जाती है। परन्तु उपयोगिता के कारण निरर्थक समझकर उसका विस्तार करना आवश्यक नही प्रतीत होता है और उसे छोड दिया जाता है। पाठक अपनी जिज्ञासा शांति के लिए काव्य प्रकाश उल्लास ४ देख सकते हैं।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य

काव्य के विभाग पर विचार करते हुये पहले उसके तीन भेद—

(१) ध्वनि काव्य अथवा उत्तम काव्य (२) गुणीभूत व्यंग्य काव्य या मध्यम काव्य और (३) चित्र काव्य अथवा अधम काव्य किये गये थे। इन तीनों में सर्वप्रथम ध्वनि काव्य का अभी तक सामान्य परिचय दिया जा चुका है। अब गुणीभूत व्यंग्य काव्य का परिचय दिया जायगा।

स्वरूप —आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य की परिभाषा इस रूप में दी है कि 'जिस काव्य में व्यंग्यार्थ ध्वनिकाव्य के समान चमत्कारक नहीं होता है अर्थात् जिसमें वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक होता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य अथवा मध्यम काव्य कहा जाता है।[२] पहले बताया गया है कि ध्वनि काव्य के असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि में रस, भाव, रसाभास, भावाभासादि की प्रधानता रहती है। यदि इनकी प्रधानता न रहे अर्थात ये अंगी न रह कर अलंकार वस्तु आदि का अंग हो जाय, तो ऐसी दशा में इन्हें गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहा जाता है।

---

१ तेऽर्थोभयभूरेक भेदा अष्टादशास्यतत्। का० प्र० ४/४१

२ अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्। का० प्र० १/५

५ सदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यग्य में व्यग्यार्थ अथवा वाच्यार्थ के सम्बन्ध में यह सन्देह बना रहता है कि इन दोनों में प्रधानता किसकी है ? इसमें किसी भी एक अर्थ की प्रधानता के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है और बुद्धि संदिग्धावस्था में दोलायमान रहती है। इसी से इसे सन्दिग्ध प्राधान्य कहा जाता है। दिये गये उदाहरण संख्या १३० में[1] यह निश्चित नहीं हो पाता है कि नेत्रों के सस्पृह रूप में दशन का व्यग्यार्थ पार्वती के अधरों का चुम्बन लेने से सम्बन्धित है अथवा वाच्यार्थ रूप नेत्रों का व्यापार मात्र ही प्रधान रूप में अभिप्रेत है। इसी से संदेह की अवस्था बनी रहती है और निर्णय का अभाव होने से सदिग्ध प्राधान्य व्यग्य कहा गया है।

(६) तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यग्य काव्य में वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ की प्रधानता तुल्य रूप में बनी रहती है। इसमें व्यग्यार्थ की प्रधानता वाच्यार्थ की प्रधानता से अधिक नहीं होती। दोनों का एक समान ही महत्व बना रहता है। उदाहरण सं १३० में व्यग्यार्थ राक्षसों का नाश और वाच्यार्थ रावण के गौरव निवेदन तथा सौहार्द का सूचन दोनों का सम प्राधान्य है।

(७) काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यग्य काव्य वहाँ होता है जब व्यग्यार्थ काकु द्वारा (अर्थात् कठ के विशेष प्रकार के उच्चारण ढग से) प्रकट होता है और इस गुणीभूत के अन्तर्गत मानते हैं। जैसे दिये गये उदाहरण संख्या १३१ में भीम की उक्ति में काकु के द्वारा यह व्यग्य अर्थ निकलता है कि मैं दुर्योधन आदि सौ कौरवों को अवश्य मारूँगा दुशासन का रुधिर पान करूँगा तथा गदा से दुर्योधन के उरु युगल का चूर्ण करूँगा। क्योंकि कुरु कुल के नाश करने की प्रतिज्ञा करने वाले भीम की 'न मन्ये' आदि निषेधात्मक उक्तियाँ उनकी प्रतिज्ञा के प्रतिकूल हैं और ऐसे 'न' द्वारा ही यह काकु स्पष्ट है। अत अवश्य मारूँगा यह व्यग्यार्थ है और वाच्य अर्थ है कुरु कुल विनाश के प्रतिज्ञा का भग होना। अत पहले शीघ्रता से व्यग्यार्थ की प्रतीति होने के बाद ही वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और इस प्रतीति का साधन है 'काकु' अथवा कहने का स्वर। इसी से इस काकु से आक्षिप्त व्यग्य काव्य कहा गया है।

(८) असुन्दर व्यग्य गुणीभूत व्यग्य काव्य में व्यग्यार्थ वाच्यार्थ की उपेक्षा कम सुन्दर होता है। दिये गये उदाहरण में व्यग्यार्थ है—कामी-युवक का वेतस कुञ्ज में प्रवेश करना—और वाच्यार्थ है 'गृहकर्म में रत सुन्दरी के अगों में व्याकुलता उत्पन्न होना। इसमें व्यग्यार्थ में वह चमत्कार नहीं है जो वाच्यार्थ

१ का० प्र० उल्लास ५ उदा० १ ३०

म है। इस उदाहरण म 'अङ्गो म अवसाद का उत्पन्न होना' वाच्यार्थ है और इस वाच्यार्थ का ज्ञान बिना व्यग्यार्थ की अपेक्षा के ही हो जाता है तथा यह वाच्यार्थ ही विप्रलम्भ भाव का पोषक है, और अधिक चमत्कार जनक भी है।

इस काव्य के सम्पूर्ण भेद प्रभेद—यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ध्वनि काव्य की ही भाति गुणीभूत व्यग्य काव्य के भी इन आठ भेदो के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से भेद हो सकते हैं अर्थात जैसे ध्वनि काव्य के शुद्ध भेद-प्रभेद 'अर्थान्तर सक्रमित वाच्यत्व की विशषताओ स सम्भव है तथा सकीर्ण अथान्तर भेद सकर' और ससृष्टि' क आधार पर हो सकते हैं, उसी पर गुणीभूत व्यग्य के भी भेद प्रभेद हो सकते हैं। परन्तु सभी स्थानो पर सम्भव नही है, क्योंकि जहाँ "वस्तु रूप वाच्य के द्वारा अलकारों का अभिव्यञ्जन हो रहा हो, वहाँ अभिव्यग्य अलकार ध्वनि होगा, गुणीभूत व्यग्य नही होगा।[1]

मम्मट ने ध्वनि के ५१ मुख्य भेद बताये हैं। उनमे से वस्तु व्यग्य अलकार रूप स्वत सम्भवी कवि प्रौढोक्ति सिद्ध और कवि निबद्धवक्त प्रौढोक्ति सिद्ध भेदों के प्रत्येक म पदगत वाक्यगत और प्रबन्धगत भेदो की कल्पना गुणीभूत में नही की जा सकती है। अत ध्वनि काव्य के उन ५१ भेदों में से ६ भेदो को निकाल देने पर गुणीभूत व्यग्य काव्य के कुल ४२ भेद प्रमुख रूप म हो सकते हैं। गुणीभूत व्यग्य के इन भेदो मे जो अलकार रूप म भी सम्भव होते हैं, तथा जो उपमादि अलकारो स युक्त भी होता है—सकर और ससृष्टि की सम्भावना के साथ 'ध्वनि के सम्मिश्रण से और भी भेद हो सकते हैं। इस प्रकार से इन दोनो क सम्मिश्रण स भेद प्रभेदो की सख्या बहुत अधिक हो जाती है। परन्तु उन सभी भेदों का गणना का कोई महत्व नही है तथा उनका बहुत उपयोग भी नहीं होता है। अत प्रमुख भेद—४२ ही मानना चाहिए। उसके अन्य भेद प्रभेद करना केवल मात्र गणना की सन्तुष्टि के लिए ही है। सच तो यह है कि आचार्य मम्मट इस गणना का महत्व नही देते और उनका मुख्य उद्देश्य ध्वनि के स्वरूप का उन्मीलन करना एव उसके रहस्यों का उद्घाटन करना ही रहा है। इसी से केवल इसका सकेत करके पुन 'ध्वनि' की स्थापना करने मे ही उन्होंने अपनी सभी मानसिक शक्ति केन्द्रित कर दी है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई है।

---

१ यथायोगमिति। व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलकृतयस्तदा। ध्रुव ध्वन्यङ्गता तासा काव्य वृत्तेस्तदाश्रयात्'। इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तु मात्रेण यत्रालकारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूत व्यग्यत्वम्'। का० प्र० प० उल्लास।

चित्र-काव्य

स्वरूप—व्यंग्य अर्थ से रहित अवर (अधम) काव्य शब्द चित्र और अर्थ चित्र भेद से दो प्रकार का होता है। इसी अवर काव्य को आनन्दवर्धन ने चित्र काव्य कहा है। यह विभेद व्यंग्यार्थ के प्राधान्य या अप्राधान्य के आधार पर किया गया है। जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होगी, वहाँ ध्वनि काव्य, जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं होगी वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य और जहाँ व्यंग्यार्थ की स्थिति ही न हो वहाँ चित्रकाव्य होता है।[2] अर्थात् इस काव्य में काव्य की आत्मा ध्वनि का सर्वथा अभाव रहता है। इसमें न तो रस भावादि का रहस्य होता है, न ध्वनि का प्रकाशन, अपितु शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के आधार पर चित्र की भाँति एक कथन मात्र रहता है जहाँ शब्द का ही कथन होता है, वहाँ उपमादि अलंकार होते हैं। वास्तव में यह काव्य न होकर ध्वनिकार के मत से काव्य का अनुकरण है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि रसभावादि के विश्रान्ति रूप आनन्द से शून्य सभी प्रकार की अलंकार योजना चित्र काव्य के अन्तर्गत आती है। यदि इस अलंकार योजना में रस भावादि अभिव्यंग्य हों तो वह चित्रकाव्य न होकर ध्वनि काव्य की ही परिधि में आयेगा। मम्मट ने वृत्ति भाग में कहा है कि चित्र से अभिप्राय है—गुण की व्यञ्जना करने वाले शब्द तथा अर्थ और शब्द अर्थ में अलंकृत रचना। अव्यंग्य का अर्थ व्यंग्यार्थ की स्फुट प्रतीति की रहितता से है। अधम होने से उसे अवर काव्य कहा गया है।[3]

भेद—इसके दो भेद किये गये हैं। (१) शब्द चित्र (२) अर्थ चित्र। शब्द चित्र में शब्दालंकार की प्रधानता रहती है और कवि का ध्यान शब्द में विचित्रता उत्पन्न करने में ही लगा रहता है। जब अर्थ की अपेक्षा शब्द में ही विचित्रता उत्पन्न करने की ओर कवि उन्मुख हो, तो वहाँ शब्द चित्र माना

---

१ शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यमवरं स्मृतम्—का० प्र० १/५

२ प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते। काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते।

चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्। तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥ ध्वन्यालोक ३/४२-४३

३ चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। अव्यंग्यमिति स्फुट प्रतीयमानार्थ रहितम्। अवरमधमम्।

जाता है। शब्द चित्र म अथ वचिध्य का सवथा अभाव नहा होता। प्रथम उल्लास म दिय गये उदाहरण[1] म शब्दो की विचित्रता के कारण वहाँ अनुप्रास अलकार है, साथ ही व्यतिरक अलकार के रूप मे अर्थालकार भा है तथा अवर काव्य के दूसरे उदाहरण[2] म अथ वचित्र्य का प्राधाय है पर तु साथ मे अनुप्रास अलकार भी स्पष्ट रूप म दिखाई पडता है।

क्षेत्रों की उभयगतता—इसी प्रकार अथ चित्र मे अथ का वचित्र्य रहता है। तात्पय यह हुआ कि अथ वाचित्र्य म शब्द वचित्र्य गौण रहता है और शब्द वचित्र्य म अथ वचित्र्य गौण रहता है। इस प्रकार के काय म कवि का विशष म तव्य ही शब्द या अथ के वचित्र्य को स्पष्ट कर देता है तथा इस प्रकार जिस सौ दय का विधान होता है उसम दोनों का योग होता है क्योंकि शब्द अथ बोधक होता है और अथ शब्द द्वारा बोध्य है। अत यह सौ दय उभयगत होता है।

नामकरण का आधार—शब्द सौ दय म काव्यान द तो रहता ही है पर तु विभावादि सामग्री क अभाव म शृ गारादि रसों की अभि यक्ति नही हो पाती। इसस शब्द सौष्ठव और रसास्वादन का सम्ब घ नही मालूम पडता है, परन्तु शब्द द्वारा ही अथ सौष्ठव की प्रतीति होने से दानों की ही उपादेयता बनी रहती है और का य निर्माण म दोनो के सौन्दय विधान पर कवि की दृष्टि रहती है। षष्ठ उल्लास म दिय गये प्रथम उदाहरण म म, त क, ष, ख रू आदि यजनो के वि यास म अनुप्रास क सौ दय क साथ ही स्वाभावोक्ति और उपमा का भी सौ दय वतमान है पर तु 'प्राधा यन व्यपदेशा भवन्ति' अर्थात् प्रधानता के कारण हा नामकरण होता है इस नियम के अनुसार यहाँ शब्द चित्र ही होगा यद्यपि अथ सौष्ठव भी वतमान है।

दूसरे उदाहरण म अथ का सौ दय वतमान है। इसमे श्लिष्ट पदों के साथ उपमा का भी सौन्दय है। पर तु य दोनों उपमा और श्लिष्ट पद एक ही अथ को पुष्ट करते हैं। अत कवि का ध्यान सम्मुच्चय-अलकार' की ओर ही अधिक रमा है और इससे अथ चित्रण का ही सौ दय स्पष्ट होता दीख पड़ता है।

इस प्रसग मे इतना कहा जा सकता है कि शब्द चित्र और अथ चित्र दोनों ही अ यम अथवा अवर काव्य' के अ तगत आते हैं। यद्यपि इनकी उपादेयता भी अ ततागत्वा का य म विभावादि की योजनारूप मे परिणत

---

१ का० प्र० १/४ उदाहरण
२ का० प्र० १/५ उदाहरण

हो सकती है, फिर भी स्फुट रूप से व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराना कवि का उद्देश्य नहीं होता है।

काव्य संज्ञा की सम्भवनीयता — ध्वनिकार[1] ने भी इसका समर्थन किया है कि चित्र काव्य में रस रूप व्यंग्यार्थ का अभाव रहता है। ऐसी दशा में रस शून्य होने पर भी उसे काव्य की संज्ञा दी जा सकती है या नहीं ? उनका विचार है कि संसार की प्रत्येक वस्तु चित्तवृत्ति को अवश्य प्रभावित करती है अथवा प्रत्येक वर्णन किसी न किसी रस भावादि का अंग भी बन ही जाता है। किसी भी प्रकार की मानव चेतना अथवा संवेदना क्यों न हो, उसका सम्बन्ध कवि हृदय से अवश्य ही स्थापित हो जाता है। ऐसी दशा में वह काव्य का विषय हो ही जाता है। परन्तु कवि का उद्देश्य चित्र काव्य में तो शब्द चित्र या अर्थ चित्र उपस्थित करना होता है। भले ही उससे रस भावादि की पुष्टि हो जाय। सहृदय जनों को इसस भी आनन्द प्राप्त हो सकता है परन्तु वह पूर्ण रसानुभूति नहीं होगी। क्योंकि रस दृष्टि से कवि हृदय का पूरा सहयोग न होने से उसकी दृष्टि तो शब्द या अर्थ चित्रण तक ही सीमित रहती है। अतः चित्र-काव्य में रस भावादि से युक्त काव्य की भाँति सरसता का अभाव रहता है और इसी दृष्टि से उसे नीरस काव्य की संज्ञा दी गई है।

निर्णय — काव्य सम्बन्धी अभी तक के दिये गये विवरणों के आधार पर अब यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि काव्य की उत्तमता का एक मात्र आधार *व्यंग्यार्थ की चारुता ही है। अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ की प्रधानता रहती है, तथा उसी के चारुत्व का प्रदर्शन कवि का अभि-* प्रेत होता है, उसे उत्तम काव्य अथवा ध्वनि काव्य की संज्ञा दी गई है। अधम या अवर काव्य उसे कहा गया है जिसमें एक चमत्कार तो अवश्य होता है, परन्तु वह व्यंग्य के कारण न होकर शब्द अथवा अर्थ जन्य होता है अर्थात् शब्दार्थ वैचित्र्य से ही वह चमत्कार उत्पन्न होता है। और जहाँ पर मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया हो— अर्थात् व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों की स्थिति हो परन्तु व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार विधायक हो तथा यह वाच्यार्थ का अंग होकर आया हो तो वहाँ पर मध्यम-काव्य की अथवा गुणीभूत व्यंग्य काव्य होगा। इस प्रकार ध्वनिसम्प्रदाय वालों की दृष्टि में व्यंग्यार्थ का अत्यधिक महत्व है और किसी भी रचना की उत्तमता की कसौटी भी यही व्यंग्यार्थ ही माना गया है।

---

१ ध्वन्यालोक—३रा उद्योत "प्रतीयमानोऽप्यर्थास्त्रिविभेद व्यवस्थाप्यते।"

वाच्यार्थ और अभिधाशक्ति

शब्दार्थ के स्वरूप का निर्णय करते हुए मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में बताया है कि वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्द होते हैं, और इन्हीं तीन प्रकार के शब्दों से वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों का भी बोध होता है। मीमांसकों के मत से इन तीनों के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ नामक एक चौथा अर्थ भी मानना चाहिए। इस अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति तात्पर्या शक्ति कही जाती है। अन्य तीन अर्थों का बोध क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक शब्द शक्ति से होता है। इन चारों शक्तियों का यथा प्रसंग विस्तार से वर्णन किया जायेगा। संक्षेप में यहाँ उनके स्वरूप की चर्चा मात्र की जा रही है।

जब कोई शब्द अपने साक्षात् संकेतित अर्थ का (सीधे रूप में ही प्रचलित अर्थ का) बोध कराता है तो वहाँ उस अर्थ की प्रतीति में शब्द का व्यापार करने वाली शक्ति को अभिधा शक्ति कहते हैं और इसमें बोध्य अर्थ को वाच्यार्थ अथवा अभिधेयार्थ कहते हैं। इस संकेतित अर्थ का बोध जब न हो और उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध जिस शब्द की शक्ति द्वारा होता है उसे लक्षणा शक्ति और उस अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। जब वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से आगे प्रकरणादि के कारण एक सर्वथा नवीन अर्थ का बोध होता है तो वह व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है। इसका बोध कराने वाला शब्द व्यञ्जक और अर्थ व्यंग्य होता है। तात्पर्याशक्ति वास्तव में शब्द की शक्ति नहीं है। मीमांसकों के दिये गये उदाहरणों में इसे वाक्य शक्ति कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

शब्द की उपाधियों का विभाग—स्मरण रखना चाहिए कि वाचक, लक्षक और व्यञ्जक इन तीन प्रकार के शब्दों का जो वर्णन किया गया है, वह विभाग वास्तव में शब्दों का नहीं है अपि तु उनकी उपाधियों का है अर्थात् एक ही शब्द प्रकरणादि के कारण कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक हो जाता है। कोई एक निश्चित शब्द केवल वाचक ही हो अथवा लक्षक या व्यञ्जक ही हो इस प्रकार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि एक

ही शब्द जो एक बार वाचक रहा हो, दूसरे प्रसग में लक्षक और तीसरे प्रसग में वही व्यञ्जक हो जायेगा। अत वाचक, लक्षक, और व्यञ्जक का यह विभाग शब्दो का न होकर शब्दो की उपाधियों का ही होता है।

अभिधा और वाच्यार्थ — जो शब्द साक्षात् सकेतित अर्थ को बताता है, वह वाचक कहा जाता है[1], और इससे जिस अर्थ का बोध होता है वह मुख्य अर्थ होने से वाच्यार्थ होता है तथा इस वाच्यार्थ को बताने वाला शब्द की अभिधा शक्ति होती है।[2] अर्थात जिस शब्द शक्ति से मुख्यार्थ का बोध होता है, उसे अभिधा कहते हैं और यही मुख्य क्रिया भी कही जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह मुख्य व्यापार शब्द के अमुख्य व्यापार— जो अभिधामूला व्यञ्जना मे पाया जाता है—से भिन्न है। आचार्य जगन्नाथ ने कहा है कि अभिधाशक्ति उस व्यापार को कहते है, जहाँ अर्थ का शब्द में और शब्द का अर्थ मे साक्षात् सम्बन्ध हो[3]। सामान्य भाषा मे इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते है कि शब्द का जन साधारण में प्रचलित एव जो प्रसिद्ध अर्थ होता है, उसे ही अभिधेयार्थ कहते हैं। इस अर्थ का बोध दैनिक व्यवहारो से ही सम्भव होता है। इस प्रकार शब्द से व्यक्त होने वाले साध अर्थ को ही वाच्यार्थ कहते हैं। अत स्पष्ट है कि सकेत के द्वारा ही शब्द से अर्थ ज्ञान होता है।

अर्थ ज्ञान मे सकेत — सकेत का स्वरूप शब्द और प्रक्रिया के सम्बन्ध मे बताया गया है कि किसी शब्द के प्रयुक्त होने पर सकेत के सहारे हम किसी शब्द से अर्थ विशेष को ही ग्रहण करते हैं यथा जब हम 'गौ' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे एक ऐसे पशु विशेष का अर्थ ज्ञान होता है जिसके चार पैर दो सीग एक गल कम्बल और इसी प्रकार की अन्य चीजें होती हैं अर्थात् गौ' शब्द से सास्नादिमान् एव पशु विशेष का बोध होता है। इसमे 'गौ' शब्द उस पशु विशेष का वाचक शब्द है, वह पशु उस शब्द का वाच्यार्थ है और इसमे शब्द का अभिधा-व्यापार अपना कार्य करता है। अत वाचक

---

१ साक्षात्सकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचक ।

२ स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। काव्य प्रकाश दूसरा उल्लास

३ शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगत शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा रस गगाधर १४०

शब्द से सदैव वाच्यार्थ का ही बोध हो सकता है और सब प्रथम किसी प्रयुक्त शब्द से वाच्यार्थ रूप मुख्य अर्थ की ही प्रतीति होती है। इस अर्थ का बोध होने पर ही इससे सम्बद्ध अन्य अर्थों की प्रतीति सम्भव है। इस प्रकार अभिधा शक्ति द्वारा अर्थ बोध की प्रक्रिया में संकेत का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इस स्थान पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि शब्द को यहाँ वाचक कहा गया है जो संकेत को ग्रहण कराने में सहायक होता है, परन्तु व्यवहार में हम शब्द का प्रयोग न करके या तो वाक्य का प्रयोग करते हैं, या शब्द वाक्य का। अतः वाक्य के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

वाक्य का स्वरूप—आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि 'योग्यता आकांक्षा और सन्निधि से युक्त पदोच्चय ही वाक्य कहा जाता है।'[1] अर्थात उस शब्द 'समूह' को वाक्य कहेंगे जिसमें आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के सहारे एक निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति हो। आचार्य मम्मट ने कहा है कि "पदार्थों का आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के बल से परस्पर सम्बन्ध होने में पदों से प्रतीत होने वाला अर्थ न होने पर भी विशेष प्रकार का तात्पर्यार्थ रूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है। यही अभिहितान्वय वादियों का मत है"[2]

आकांक्षा—इन तीनों पारिभाषिक शब्दों को समझ लेना आवश्यक है। जैसे 'गामानय' 'गाय ले आओ' वाक्य में यदि केवल 'गाम' का ही कथन किया जाय और 'आनय' का नहीं तो वाक्य के अर्थ की पूर्ति की आकांक्षा बनी रहेगी और श्रोता की जिज्ञासा पूर्ण नहीं हो पायेगी अर्थात एक पद सुनने के उपरान्त जब दूसरे पद को सुनने की अभिलाषा वर्तमान रहे और बिना उस शब्द या पद को सुने पूर्ण अर्थ का ज्ञान न हो तो यही 'आकांक्षा' होगी। इस प्रकार श्रोता की जिज्ञासा को ही आकांक्षा कहेंगे।

योग्यता—अनौचित्य के अभाव को योग्यता कहते हैं। इससे पदों के अर्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा नहीं होनी चाहिए। यदि बाधा होगी तो उसे न तो वाक्य ही कहेंगे और न उससे एक सार्थक वाक्यार्थ बोध ही

---

१ वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकांक्षासन्निधियुक्तः पदोच्चयः—साहित्य दर्पण

२ आकांक्षा योग्यता सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां इत्यभिहि तान्वयवादिनां मतम्।" काव्य प्रकाश २रा उल्लास

होगा। जैसे 'अग्निना सिञ्चति' वाक्य का अर्थ 'अग्नि से सींचता है' होगा, परन्तु यह वाक्य अनुचित है क्योंकि अग्नि से सिंचन क्रिया सम्भव नहीं है और दोनों का तात्त्विक तथा लोक व्यवहार के अनुकूल उचित सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। इसमें अग्नि में सिंचन की योग्यता का सर्वथा अभाव है। अतः इस पद समूह में अनौचित्य होने के कारण इसे वाक्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

सन्निधि— वाक्य में स्थान और समय का व्यवधान न पड़ना सन्निधि कहा जाता है। इसमें किसी एक ही व्यक्ति द्वारा अविलम्ब से पदों का उच्चारण होना आवश्यक माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति एक वाक्य के विभिन्न पदों का उच्चारण समय के व्यवधान से करे, तो हम उसे वाक्य नहीं कहेंगे।

कुमारिल भट्ट का मत—अभिहितान्वयवाद में पदों से पहले अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं और बाद में पदों की आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के बल से तात्पर्याख्या शक्ति से उन पदार्थों से समन्वित रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। वाक्य में शब्द केवल अपने अर्थ का ही बोध कराने में सक्षम होते हैं परन्तु वाक्य में बहुत से ऐसे पदों का भी प्रयोग होता है जिनका साधारण अभिलषित अर्थ उचित नहीं बैठता। ऐसी दशा में तात्पर्य के अनुसार ही उसका बोध हो सकता है जैसे 'घटं करोति' वाक्य में घट का अर्थ घड़ा और 'करोति' का अर्थ 'करता है'। अर्थात् 'घड़ा करता है'—यह शब्दार्थ हुआ, परन्तु वाक्य का वास्तविक अर्थ इसे हम नहीं मान सकते हैं, क्योंकि घड़ा करने का अर्थ व्यवहार में नहीं लिया जाता है। अतः इसका अर्थ भिन्न रूप में ही लगाना पड़ेगा। अर्थात् 'घटनिष्ठं यत् कर्मत्वं तदनुकूलाकृतिं करोति' यह अर्थ होगा। इससे 'घटं करोति' वाक्य से निष्ठत्व का शब्दार्थ ग्रहण नहीं होता है परन्तु वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि की अन्विति से ही इस अर्थ का ग्रहण सम्भव होता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'निष्ठत्व' का अर्थ शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना किसी भी शक्ति से ग्रहण नहीं किया जा सकता है अपितु वक्ता के कथन के उद्देश्य के अनुसार ही शब्द की आकांक्षादि के योग से इस अर्थ का बोध होता है। अतः योग्यता आकांक्षा और सन्निधि के समन्वय से प्राप्त अर्थ से भिन्न जिस दूसरे अर्थ या भाव का ज्ञान होता है वही वक्ता का तात्पर्य होता है और इस अर्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं तथा इसका बोध कराने वाली शक्ति तात्पर्याख्या शक्ति कही जाती है। साहित्यदर्पणकार

ने भी इसी बात का समर्थन किया है।[1] अभिहितान्वयवादियों का यही मत है। ऐसा लगता है कि आचार्य मम्मट का विचार कुमारिल भट्ट से भिन्न था। इसी से इन्होंने अपनी कारिका में "तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्" लिखा है।

कुमारिल भट्ट के मत का सर्वप्रथम खण्डन उन्हीं के शिष्य प्रभाकर भट्ट ने किया है। बाद में शालिकनाथ मिश्र आदि अन्विताभिधानवादियों के द्वारा कुमारिल भट्ट के इस मत का खण्डन किया गया है।

अन्विताभिधानवाद के अनुसार पहले से अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है और पदार्थों का अन्वय पहले से ही सिद्ध होने के कारण तात्पर्याख्या शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसी से अन्वित पदार्थों का अभिधा से बोध होने से इसका नाम 'अन्विताभिधानवाद' कहा गया है।

इसको स्पष्ट करने के लिये प्रभाकर भट्ट ने संकेत ग्रहों की चर्चा की है। ये संकेतग्रह व्याकरण, कोष, उपमान, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्य शेष, विवृत्ति और सिद्धपद के सान्निध्य से सम्भव होते हैं।[2] अतः इनसे यह प्रकट हो जाता है कि किसी शब्द से विशेष अर्थ का ही ज्ञान उस प्रसंग में होता है अर्थात् अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही ज्ञान होगा, इस प्रकार के शक्तिग्रह के आठ उपायों में व्यवहार ही सर्वप्रमुख है। और छोटे बालक के शब्दों से अर्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया का उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है। बालकों के इस व्यवहार ज्ञान की क्रिया को 'आवापोद्वाप' की संज्ञा दी गई है।

व्यवहार द्वारा संकेतग्रह—छोटे बालक में संकेतग्रह का एक मात्र उपाय व्यवहार ही है। इसके अनुसार उत्तमवृद्ध पिता आदि मध्यम वृद्ध भाई या भृत्य को गाय अथवा अन्य कोई वस्तु लाने के लिये आज्ञा देता है। पास में बैठा छोटा बालक उत्तम वृद्ध द्वारा कहे गये वाक्य को सुनता है तथा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मध्यमवृद्ध भाई द्वारा सास्नादिमान एक गाय रूपी पिण्ड विशेष को लाता हुआ आँखों से 'प्रत्यक्ष' देखता है। बालक 'गाय' और 'आनय' पद में से किसी को नहीं जानता है, परन्तु 'पिता के द्वारा कहे गये वाक्य का अर्थ समझ-

---

१ तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधिनीम्।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ॥ साहित्यदर्पण

२ शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

सि० मु० दिनकरीय

कर हो इस भाई पशु विशेष को लाया है, ऐसा वह अनुमान लगा लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य 'गामानय' का तो उसे अर्थ ज्ञान हो जाता है, परन्तु अलग अलग पदों के अर्थ का ज्ञान उसे नहीं होता है। पुनः दूसरे समय में 'गामानय' अश्वमानय आदि वाक्यों को सुनता है और तदनुकूल चेष्टाओं को देखता है और सुने हुए पद 'गाम' आदि को पुनः सुनकर उसे पहचान लेता है तथा उन उन क्रियाओं को देखकर अन्वय व्यतिरेक से प्रवृत्ति निवृत्तिकारी वाक्य ही प्रयोग के योग्य है ऐसा निश्चय कर लेता है।[१] इस प्रकार बार बार किसी एक वाक्य की प्रतिक्रिया में एक ही प्रकार के व्यवहार को होता देखकर वह निश्चय कर लेता है कि वह लाया गया पिण्ड विशेष गाय है और उस व्यक्ति के सम्बन्ध से 'आनय' पद का भी उसे ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार अन्वित पदार्थ ही शब्द को व्यक्ति के सम्बन्ध से प्रकट करता है। अतः संकेतग्रह केवल पदार्थ में न होकर किसी के साथ अन्वित पदार्थ में ही माना जायगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि *अनन्वित पदार्थ में संकेतग्रह नहीं हो सकता है और अभिधा से जब इसका* बोध हो ही जाता है तो तात्पर्याख्या शक्ति का मानना उचित नहीं कहा जा सकता है। अतः अन्विताभिधानवाद ही ठीक है अभिहितान्वयवाद ठीक नहीं है, यही प्रभाकर मीमांसकों के अन्विताभिधानवाद का संक्षेप है।

शब्दों से अर्थ की नियामकता—उपर्युक्त पंक्तियों में संकेत की जो चर्चा की गई है, उस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। किसी वाक्य में प्रयुक्त *अमुक शब्द का अमुक अर्थ ही क्यों लिया जाय इस समस्या का समाधान करने* के लिये विद्वानों में दो प्रकार की विचार पद्धति दृष्टि पड़ती है।

(१) ईश्वरेच्छा अर्थात् दिव्य उत्पत्ति का मत अभिधा शक्ति द्वारा वाचक शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसे वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ कहते हैं और उस मुख्यार्थ का ग्रहण प्रत्यक्ष संकेत से ही सम्भव है। परन्तु अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ज्ञान होना चाहिए इस रूप में संकेत का नियामक ईश्वर की इच्छा ही मानी गई है। सर्वप्रथम वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द का अर्थ निश्चित कैसे हुआ है, इसके लिये दार्शनिकों ने बताया है कि इसमें ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है। इस मत के अनुसार सृष्टि के साथ ही ईश्वर ने शब्दों तथा उनके

---

१ " इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य-तस्य शब्दस्य तत्तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति।' काव्य प्रकाश पंचम उल्लास

साक्षात संकेतित अर्थों तथा उनके मुख्य सम्बन्ध की स्थापना स्वयं कर दी थी और हम उन्हें परम्परा से ग्रहण करते चले आ रहे हैं। यह मत उन नैयायिकों का है, जो शब्द को नित्य न मानकर कृतक मानते हैं।

इस मत के विपरीत कुछ विद्वानों ने शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध माना है, कृतक नहीं। परन्तु शब्द से अर्थ का ज्ञान वे भी संकेत ग्रह से ही मानते हैं अर्थात् किसी शब्द से जिस अर्थ का ग्रहण होता है, उस अर्थ के ज्ञान के लिये शब्द और अर्थ के बीच में रहने वाले संकेत की जानकारी आवश्यक मानी गई है।

(२) संकेत ग्रह के सम्बन्ध में दूसरा मत अनीश्वरवादी है अर्थात मानव समाज की चेतना के अनुसार ही नये शब्दों का निर्माण तथा उन शब्दों के अर्थों का निर्धारण विकास के साथ ही होता चला जाता है। इस मत में जनमत का समर्थन है और चेतनावाद की पुष्टि की गई है। संकेत का ग्रहण इस मत में भी होता है परन्तु यह संकेत ईश्वर कृत न होकर मानव-कृत है। यही इन दो विचारधाराओं में अन्तर है।

संकेतग्रह के साधन—संकेत के साधन के में भारतीय दार्शनिकों में बड़ा ही मतभेद है। वैयाकरणों ने जात्यादि चार भेद और मीमांसकों ने केवल जाति रूप एक भेद माना है।[१] वैयाकरण और मीमांसक दोनों ही यह मानते हैं कि संकेत व्यक्ति में नहीं हो सकता है। ऐसी दशा में संकेत कहाँ माना जाय इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं—

(१) भाट्ट मीमांसक जाति में संकेत और आक्षेप से व्यक्ति का बोध।

(२) श्रीकर का मत—जाति में संकेत उत्पादन से व्यक्ति का ग्रहण।

(३) मण्डन मिश्र का मत—लक्षणा शक्ति से व्यक्ति का ग्रहण।

(४) प्रभाकर का मत—जाति में संकेत जाति के ज्ञान के साथ व्यक्ति का स्मरण।

(ये चारों जातिवादी मत हैं)

(५) जात्यादिवादी वैयाकरण और नव्य आलंकारिक मत-उपाधि में संकेत।

(६) नैयायिक मत—जाति विशिष्ट व्यक्तिवादी।

---

१ संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जातिरेव वा। काव्य प्रकाश

(७) बौद्धमत—अपोहवादी।

आचार्य मम्मट ने इन सभी मतो मे वैयाकरण मत का ही समर्थन किया है। इसके कई कारण बताये गये हैं।

(१) इन्होने प्राय वैयाकरणो का अनुसरण किया है और उन्ही के मतो को मानने मे अपनी रुचि भी दिखाई है।

(२) पतञ्जलि के शब्द विभाग को उपस्थित करके इस मत का समर्थन किया गया है।

(३, दशम उल्लास म विरोध अलंकार का विभाजन भी इसी आधार पर किया गया है।

(४) उन्होंने शब्दव्यापार विचार नामक अपने दूसरे ग्रन्थ म वैयाकरणों के सिद्धान्तो का ही समर्थन किया है।

(५) मीमासक सिद्धान्त के अन्त मे 'अन्ये' लिखकर इस मत के प्रति उदासीनता दिखाई गई है। अत मीमासको का मत उनका मत नही हो सकता है। वस्तुत वे वैयाकरणो के ही अनुयायी है।

वैयाकरणो का जात्यादिवादी प्रथम मत—मम्मट ने इस मत की स्थापना करने के पूर्व व्यक्ति वादियो के विचारों को पूर्वपक्ष के रूप म उपस्थित किया है और इनका संकेत उनकी वृत्ति म किया गया है। उपर्युक्त चार मतों मे से जात्यादिवादी और जातिवादी का उल्लेख कारिका म तथा व्यक्तिवादी तद्वानवादी और अपोहवादी का उल्लेख वृत्ति म किया गया है।

(१) *व्यक्तिवादी पूर्वपक्ष—नव्य नैयायिको के अनुसार संकेत जाति में* न होकर व्यक्ति म ही माना जायगा। इनके अनुसार व्यवहार म हम देखते हैं कि व्यक्ति ही अर्थ क्रिया का निर्वाहक होता है, जाति नही।[1] अत व्यवहार द्वारा होने वाला संकेतग्रह व्यक्ति मे ही सम्भव है जाति म नही। यथा 'गामानय' वाक्य मे सुनने वाला किसी व्यक्ति रूप गाय को ही लाता है सम्पूर्ण गौ जाति को नही और न गो जाति का लाया जाना ही सम्भव है। इस प्रकार व्यवहार म गो विशेष (गो-व्यक्ति) का ही प्रयोग होता है इसलिए व्यक्ति म ही संकेत माना जायगा, जाति में नही। तात्पर्य यह है कि जीवन की व्यावहा

१ 'अर्थ क्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्य व्यक्तित्व।' काव्य प्रकाश दूसरा उल्लास पृष्ट ४८

रिक क्षमता व्यक्ति मे ही होती है और सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। जैसे यदि गाय से दूध प्राप्त करना हो तो हम व्यक्तिगत गाय के ही पास जाते हैं 'जाति' के पास नही। अत व्यक्ति मे ही सकेत का ग्रहण मानना चाहिये जाति मे नही।

मम्मट द्वारा इस मत का खण्डन—आचार्य मम्मट ने इस मत का खण्डन अपनी वृत्ति में करते हुए दो तर्क दिये है।

(१) व्यक्ति मे सकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार नामक दोष होगा।[२]

(२) व्यक्ति मे सकेत मान लिया जाय तो शब्दो का चतुर्विध विभाग (जाति गुण क्रिया यदृच्छात्मक) भी नहीं बन पाता है। इसलिए व्यक्ति मे सकेत ग्रह मानना ठीक नही है। यहाँ पर आनन्त्य और व्यभिचार दोषो को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

आनन्त्य दोष—सामान्यतया शब्द से जिस अर्थ विशेष की प्रतीति होती है उसी अर्थ मे उस शब्द का सकेतग्रह हो सकता है। बिना सकेतग्रह के अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती है। अत व्यक्ति मे सकेतग्रह मानने से किसी शब्द विशेष मे उसी व्यक्ति विशेष की ही उपस्थिति होगी, अन्य व्यक्तियो की उपस्थिति नही हो सकती है। प्रत्येक अन्य व्यक्ति की उपस्थिति के लिये अलग अलग सकेत ग्राहकों की आवश्यकता पडेगी। उदाहरण के लिये 'गो' शब्द से यदि किसी विशिष्ट गो-व्यक्ति की उपस्थिति होती है, तो उससे अन्य गो-व्यक्तियों का बोध नही हो सकता है। उनके लिये अलग अलग सकेत ग्रह को मानना पडेगा। ऐसी दशा मे विभिन्न गो व्यक्तियो के लिय विभिन्न और अनन्त सकेतग्रहो की कल्पना करनी पडेगी और वही 'आनन्त्य' दोष माना जाता है। अत व्यक्ति मे सकेतग्रह सम्भव नही है।

व्यभिचार दोष—इस आनन्त्य दोष से बचने के लिये पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि सभी गो व्यक्तियों मे अलग अलग सकेत मानने की कोई आवश्यकता नही है केवल दो चार गो-व्यक्तियों मे सकेत मान लेने से ही अन्य गो व्यक्तियों का भी बोध इसी से हो जायगा, तो ऐसी दशा मे इसमे प्रत्यक्ष रूप मे दो कमियाँ दीख पडेंगी।

(१) व्यभिचार दोष हो जायगा अर्थात् इस प्रकार नियम का उल्लघन माना जायगा। ऊपर यह नियम स्थिर हो चुका है कि सकेत की सहायता से ही

---

२ तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सकेत कर्तु न युज्यते। का०प्र०

कोई श * अर्थ विशद की प्रतीति कराता है और यदि बिना सकेत के ही अथ बोध मानलें, तो यह नियम का उल्लघन होगा । इस प्रकार व्यक्ति म सकेत मानने से आनन्त्य दोष और यदि दोष को तक के द्वारा हटाने का प्रयास किया जाय तो व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जायगा ।

(२) यहाँ यह भी कहा गया है कि कुछ गो व्यक्तियों में सकेत मान लिया जाय और शप का ज्ञान अपने आप हो जायगा, तो जिसके सम्बन्ध म सकेत नही किया गया है उसको भी हम स्वय पहचान लेंगे । ऐसी दशा म *यह आवश्यक नही है कि गो' श द से हम गो व्यक्ति का ही अथ समझ ।* इसका अथ निर्जीव पदार्थों के लिये भी हो सकता है क्योकि वक्ता यहाँ सकेत के अभाव मे किसी भी शब्द से क ई भी अथ ग्रहण कर सकता है । ऐसी दशा म असकेतित गाय और असकेतित दूसरे पदाथ दोनो ही समान हो जायगे ।

व्यक्ति मे सकेत मान लेने पर शब्द का जो चतुर्विध विभाग किया गया है वह भी ठीक नही हो पाता है । उदाहरण के लिये "गौ शुक्लो चलो डित्थ (डित्थ नामक शुक्ल गौ चलती है) वाक्य म गौ शुक्ल, चल और डित्थ इन चारो शब्दो का अथ व्यक्तिवाचक हो जायगा और डित्थ शब्द व्यक्तिवाचक है ही । इस दशा म इनम कोइ अन्तर रह ही नही जाता । यदि व्यक्ति म सकेत मान, तो उपयु क्त सभी शब्दों स गाय रूप व्यक्ति का बोध होगा अर्थात् सभी शब्द एक ही व्यक्ति के वाचक हो जान स एकार्थी हो जायगे, किन्तु यह असम्भव है । अत मम्मट का यह मत है कि व्यक्ति म सकेत न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति गुण क्रिया और यदृच्छारूप धर्मो म ही सकेत ग्रह मानना चाहिए ।

उपाधि द्वारा शब्दों का चतुर्विध विभाग—आचाय मम्मट ने जिस जात्यादिवादी मत का समथन किया है, जाति गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप वह मत वयाकरणो का है और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसे स्पष्ट किया है ।[1] इन्ही वयाकरणों का अनुकरण आलकारिको ने किया है । महाभाष्यकार के अनुसार मम्मट ने उपाधियो का निम्नलिखित रूप म वणन किया है—

उपाधि दो प्रकार की होती है (१) वस्तु धम और (२) वक्त यदृच्छा सन्निवेशित । इन दोनो में जातिगत गुण जो वस्तु मे व्याप्त होते हैं उन्हे वस्तु

१ 'गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी च शब्दाना प्रवृत्ति इति महाभाष्यकार । का० प्र० पृ० ४९

धर्म कहते हैं। और वक्ता की अपनी इच्छा से वस्तु में नाम गुण, रूप आदि का जो सन्निवेश होता है, उसे वक्त यदृच्छासन्निवेशित कहते हैं। इसमें बोलने वाला अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु का नाम रख लेता है और इस प्रकार उस शब्द से उस वस्तु विशेष का ही बोध होता है।

पदार्थ पाये जाने वाले गुण को वस्तु धर्म कहते हैं। आचार्यों ने इसके भी दो भेद किये हैं-(१) सिद्ध वस्तु धर्म (२) साध्य वस्तु धर्म। सिद्ध वस्तु धर्म पदार्थ में पहले से ही वर्तमान रहता है। उदाहरणार्थ 'सफेद गौ' में शुक्लत्व और गोत्व पहले से ही सिद्ध (वर्तमान) है। साध्य क्रिया रूप होता है। क्रिया इसमें वर्तमान काल में चलती रहती है अर्थात उसकी साधना होती रहती है। अतः साध्यमान क्रिया रूप वस्तु धर्म को ही साध्य धर्म कहते हैं।

सिद्ध वस्तु धर्म—इसके भी दो भेद-प्राणप्रद धर्म और विशेषाधान धर्म होते हैं। इन दोनों में प्राणप्रद वस्तु धर्म 'जाति' की प्रतिष्ठा करता है अर्थात उस कोटि के समस्त जीवों में इसकी स्थिति होने से यह 'प्राणप्रद' कहा जाता है। इसी को 'जाति' भी कहा जाता है। पदार्थ को प्राण देने वाला धर्म ही जाति है। इस विचार की पुष्टि आचार्य मम्मट ने भर्तृहरि को उद्धृत करते हुए कहा है कि "गौ अपने स्वरूप के कारण गौ अथवा अ गौ नहीं कहलाती अपि तु वह तो जाति के सम्बन्ध के कारण ही गौ कही जाती है।"[1] भाव यह है कि कोई भी गाय अपने आप ही गाय नहीं बन जाती और न गाय से भिन्न ही रहती है, अपि तु वह अपनी जाति के कारण ही गौ भिन्न पदार्थ से भिन्न है। गौ में जो गोत्व जाति है, उसी से तो हम गौ को पहचानते हैं, या गौ भिन्न पदार्थ को पहचानते हैं। इस प्रकार जिसमें गोत्व जाति पाया जाता है, उसे हम गौ कहेंगे और जिसमें यह गोत्व जाति नहीं पाया जाता वह गौ से भिन्न है। अतः कहा जा सकता है कि गोत्व जाति से सम्बन्ध होने के कारण ही गौ का प्रयोग किया जाता है। यही जाति रूप शब्दार्थ 'प्राणप्रद' गुण कहा जाता है।[2]

इस विचार के विपरीत स्वरूप के आधार पर गाय' को 'गाय' कहना आरम्भ करें तो गौ शब्द का प्रयोग महिष, नील गाय आदि उसी प्रकार के अन्य पशुओं के लिये भी होने लगेगा परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः निश्चित है कि गोत्व-जाति से ही गौ का गौ होना निर्णीत है। उसे नील गाय अथवा अन्य

१ नहि गौः स्वरूपेण गौर्नाऽप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः–' वाक्यपदीय'
२ अपरश्च जातिरूप, शब्दार्थ –प्राणप्रदमुच्यते ।"

किसी पशु की संज्ञा नहीं दे सकते हैं, क्योंकि नील गाय या अन्य-पशुओं में गोत्व-जाति का अभाव है। आचार्य जगन्नाथ का भी मत है कि गो में गोत्व की प्रतिष्ठा होने पर ही उसकी जाति सिद्ध होती है। इस जाति का लक्षण है "नित्यमनेक गतम् सामान्यम्।"

गुण की विशेषता—विशेषाधान हेतु गुण मूलक होते हैं। इस गुण के आधार पर व्यवहार में सत्ता प्राप्त वस्तु अपनी जाति की अन्य वस्तु से विभक्त होता है। हम उसमें परस्पर भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। गुण का स्वरूप निर्धारित करते हुए महाभाष्यकार ने कहा है कि जातियों तथा क्रियाओं में से पृथक रूप से पाया जाने वाला तथा असत्व की प्रकृति वाला गुण कहा जाता है।[1] इस प्रकार इस आधार पर गुण की कई विशेषताएँ हो जाती हैं —

(१) गुण की स्थिति सदैव वस्तु में रहती है।

(२) गुण वस्तु का परित्याग भी कर सकता है।

(३) उस वस्तु के अतिरिक्त वह अन्य जाति की वस्तुओं में भी पाया जाता है। वह चाहे जाति की विशेषताओं से विभूषित अथवा उत्पन्न हुई हो या न उत्पन्न हुई हो, इस बात से गुण में किसी प्रकार का कोई विभेद नहीं आता। यहीं पर जाति और गुण के भेद को समझ लेना भी समीचीन होगा।

जाति और गुण का भेद—(१) जाति से किसी भी पदार्थ में प्राण प्रतिष्ठा होती है जैसे गो से गो नामक प्राणी का जो बोध होता है, इसका कारण गोत्व जाति है और इसी जाति से हम प्राणदायक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं इससे वस्तु में चैतन्य की स्थिति का बोध होता है। इसके विपरीत गुण का कार्य व्यावहारिक होता है। प्राण प्राप्त वस्तु अपने गुण के कारण ही अपने में एक विशेषता उत्पन्न करके समान प्राणधायक वस्तुओं से विभक्त हो जाता है। एक ही जाति रूप चैतन्य प्राणी में गुण के कारण ही वस्तु विशेष अपने वर्ग से अलग प्रतीत होता है। जैसे सफेद गाय में शुक्लत्व गुण के कारण ही यह गाय अन्य गो व्यक्तियों से भिन्न दीख पड़ती है। इस प्रकार गुण से *किसी वस्तु की व्यावहारिक सत्ता एवं उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।*

(२) जाति जिस वस्तु में रहती है वह उस वस्तु को कभी त्याग नहीं सकती है क्योंकि जाति के ही कारण वह वस्तु विशेष संज्ञा से अभिहित

---

१ सत्वे निविशतेऽपति पृथक जातिषु दृश्यते।
आधेयश्च क्रियाजश्च सोऽसत्व प्रकृतिगुण। महाभाष्य

होती है। जाति के द्वारा स्वरूप का निर्धारण होता है। इससे वस्तु मे जाति का होना अनिवार्य है। गुण के लिये ऐसी अनिवार्यता नहीं है। गुण वस्तु मे रह भी सकता है और उसका परित्याग भी कर सकता है। ऐसा होना वस्तु की परिस्थितियो पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ किसी रंग के मिट्टी के घडे को यदि हम बहुत समय तक जल में रखें तो उसका रंग समाप्त हो जायगा। इसी प्रकार स्पष्ट है कि एक ही वस्तु की विपरीत परिस्थिति के कारण उसके गुण का नाश हो जाता है।

(३) कोई एक विशेष 'जाति' अन्य जातियो मे नहीं पायी जाती है अर्थात् गो मे जो गोत्व जाति विशेष है, वह महिषादि अन्य जातियो मे नहीं पाई जा सकती हैं, वह उससे भिन्न होती है, परन्तु उसी गुण की स्थिति अन्य जातियों के पदार्थ मे हो सकती है। जैसे शुक्लत्व गुण शंख, शुक्ति दुग्धादि भिन्न पदार्थों में पाई जाती है।

साध्य वस्तु धर्म (क्रिया रूप)—पूर्व और अपर मे होने वाले सभी प्रकार के कार्य व्यापारो को साध्य वस्तु धर्म कहा जाता है अर्थात् वस्तु का जो गुण साध्यावस्था मे है क्रियमाण गुण है उन्हे ही क्रिया कहा जाता है और वह क्रिया विभिन्न व्यापारो का समूह है। इनमे कार्य सिद्धि के पूर्व के कुछ व्यापार होते हैं। इस प्रकार साध्य क्रिया क पूर्वापर व्यापारों के संघात को ही साध्य वस्तु धर्म कहा जायगा। उदाहरणार्थ—चावल पकाने की क्रिया मे अग्नि जलाना बर्तन ठीक करना उसे चूल्हे पर रखना आदि पूर्व कालिक व्यापार बार-बार चलाना आदि वर्तमान कालिक और बर्तन को उतारना माड निकालना आदि बाद के व्यापार हैं। इन सबको अलग-अलग न कहकर 'चावल पकाना' के उपयोग से ही सबका बोध हो जाता है। इस सम्पूर्ण क्रियाओं में कुछ क्रियाएँ पूर्व की और कुछ बाद की हैं जिन्हें क्रम की दृष्टि से भविष्य की अथवा अतीत की क्रियाएँ कहेंगे। इन सभी को संघात रूप में साध्यमान क्रिया कहा जाता है। इन्ही क्रियाओं को अपर और पूर्व को क्रिया कहते हैं। भर्तृहरि ने भी वाक्य पदीय मे इसी विचार का समर्थन किया है[1] कि 'जितने भी व्यापार सिद्ध हैं (अर्थात् अतीत काल के हैं) अथवा असिद्ध (भविष्य मे होने वाले हैं) उन सभी को साध्य कहा जायगा। ये सभी व्यापार एक क्रम पर आश्रित होते हैं और इसी कारण इन्हें क्रिया कहा जाता है।"

---

१ यावत्सिद्ध मसिद्ध वा
आश्रित्यक्रमरूपत्वात्तत्क्रियेत्यभिधीयते। भर्तृहरि वाक्यपदीय ~

पारिभाषिक शब्दावली में इसी को साध्य की संज्ञा दी गई है। डा० हरिदत्त ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'When all past or future operations are apprehended as in course of accomplishment in consequence of their extending over Successive portions of time is said to be an action' (जब अतीत और भविष्य में होने वाले सभी कर्म किसी वस्तु की सम्पन्नता में विभिन्न भागों के रूप में सहायक होते हैं तो उन्हें काम कहा जाता है।

वक्तृ यदृच्छासन्निवेशित उपाधि—अभी तक वस्तु धर्म के तीन स्वरूपों जाति, गुण और क्रिया को बताया गया। अब यदृच्छात्मक शब्द का स्पष्टीकरण होगा। व्यक्तिपरक सभी संज्ञाएँ व्यक्ति की इच्छा का ही परिणाम है। शब्द के दो रूपों का निर्धारण किया गया है। (1) अन्त्यबुद्धि निर्ग्राह्य (२) संहृत क्रम। इसमें अन्त्यबुद्धि निर्ग्राह्य वह होता है जिसमें शब्द के उच्चारण के बाद प्रत्येक वर्ण का ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है जैसे डित्थ आदि शब्द में ड इ त् थ् अ वर्ण क्षणिक ध्वनियों से अभिव्यक्त होते हैं इनकी यह दशा स्फोट के पूर्व की है, तथा यह वर्ण क्रम पूर्व है। व्यावहारिक जीवन में वर्णों के इस स्वरूप से काम सिद्ध नहीं होता, क्योंकि शब्द के आशु विनाशी होने के कारण इसका स्वरूप न तो स्थिर रहता है और न हम शब्द ज्ञान के लिए इतने विलम्ब को ही सहन कर सकते हैं। अतः शब्द का यह रूप संहृत क्रम में बदल जाता है।

संहृत क्रम— वर्णों के स्फोट के रूप में शेष रह जाने वाले शब्दों के रूप को संहृत क्रम कहते हैं। इसे शब्द का सूक्ष्म अथवा काल्पनिक रूप भी माना जाता है। शब्द का यही व्यावहारिक रूप होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे Ideal Form of Word माना है। डित्थ' शब्द स्फोट रूप ही है। यह रूप वैयाकरणों के अनुसार कभी नष्ट न होने वाला और शाश्वत होता है। इसी शाश्वत रूप पर हम आशु विनाशी' डित्थादि नश्वर रूप का आरोप कर लेते हैं। यही आरोप व्यक्तिपरक नाम होता है। इस प्रकार वाणी का व्यवहार करने वाले लोगों के द्वारा अपनी इच्छा से उन उन व्यक्तियों में आरोपित किया गया धर्म ही वक्तृ यदृच्छासन्निवेशित धर्म कहा जाता है। महाभाष्यकार ने इसी दृष्टि से शब्द के चार स्वरूपों का वर्णन जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा के रूप में किया है।

वैशेषिक दर्शन में गुण सम्बन्धी शंका और उसका निवारण— इसी प्रसंग पर मम्मट ने वैशेषिक मतावलम्बियों द्वारा उठाये गये गुण सम्बन्धी एक शंका का समाधान भी किया है। मम्मट के अनुसार वस्तु के प्राणप्रद

धर्म का नाम जाति और उसके विशेषाधान हेतु धर्म को गुण कहा है। वशेषिक दर्शन मे गुरुत्वादि रूप के समान परमाणु को भी गुण कहा जाता है और उनके द्वारा बताये गये चौबीस गुणों मे 'परमाणु' की भी गणना हुई है।

वशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु के चार भेद हैं। अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व। ये नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के होते हैं। नित्य परमाणु की स्थिति परम महत्त परमाणु मे रहती है और इस आधार पर परमाणु को गुण कहा गया है। इसके विपरीत मम्मट ने इस मत का खण्डन करते हुए परमाणु को गुण न मान कर इसका समावेश जाति मे किया है। 'यह परम-अणु परमाणु परमाणु रूप सूक्ष्मतम पदार्थ का प्राणप्रद धर्म है, विशेषाधान हेतु नहीं'। इसलिए आपकी परिभाषा के अनुसार परम अणु-परमाणु के वाचक परमाणुपरमाणु शब्द को जाति शब्द मानना चाहिए, परन्तु वशेषिक दर्शन में उसका पाठ गुणों में किया गया है इसका क्या कारण है?

इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार मम्मट ने यह दिया है कि परम-अणु परमाणु वस्तुत जातिवाचक शब्द ही है, परन्तु वशेषिक दर्शन मे उनका पारिभाषिक गुणत्व है। 'परमण्वादीनां तु गुणमध्ये पाठात् पारिभाषिक गुणत्वम्'[1]

आचार्य मम्मट का मत— मम्मट के अनुसार परमाणु गुण के अन्तर्गत न आकर जाति के अन्तर्गत माना जायगा। वाक्यपदीय में कहा गया है कि गौ स्वरूप के कारण गौ नहीं है अपितु गोत्व जाति के कारण गौ है। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि 'नहि स्वरूपेण परमाणु नाप्यपरमाणु परमाणुत्वाद्भिसम्बन्धात्तु परमाणु।" इसके अतिरिक्त महाभाष्य मे गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "जो वस्तु मे रह कर भी वस्तु का त्याग कर सकता है, वह गुण है," किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, क्योंकि परमाणुत्व परमाणु का त्याग नहीं कर सकता है। अत परमाणु जाति है, गुण नहीं।

वशेषिक दर्शन द्वारा इस मत का खण्डन— यह दर्शन परमाणु को 'जाति नहीं मानता। इसके अनुसार 'जाति' नित्य है तथा अनेक मे समान रूप से पाई जाती है 'नित्यत्वे सति अनेकगतम्" इस दर्शन में 'जाति' के पर' और 'अपर' दो भेद किये गये हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए'ब्राह्मणो

---

१ काव्य प्रकाश दूसरा उल्लास वृत्तिभाग।

देवदत्त' का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें जाति के दो पद 'मनुष्यत्व' और ब्राह्मणत्व' बताये गये हैं। इनमें मनुष्यत्व 'पर सामान्य' और ब्राह्मणत्व अपर सामान्य' है। जहाँ 'पर' और 'अपर' का भेद स्पष्ट नहीं होता वहाँ 'सकर' कहा जाता है। इसे उदयन ने जाति' को छ दूषित अवस्थाओं में एक माना है।[1] नयायिको के अनुसार भी परमाणु मे जाति के 'पर' और 'अपर' भेद नहीं होते। उदाहरण के लिये पार्थिव परमाणु मे उसे जाति मानने पर पृथिवीत्व और परमाणुत्व दो सामान्य होने चाहिए। साथ ही सकर से परे रहने के लिये एक को पर' और दूसर को अपर' मानना आवश्यक होगा। यह काय दो रूपो म हो सकता है—

(१) परमाणु को पर' और पृथिवीत्व को 'अपर' माना जाए।
(२) पृथिवीत्व को 'पर' और परमाणु को 'अपर' माना जाय।

इन दोनो म पहली दशा मानने पर दो प्रकार के दोषों का उद्भव होता है।

(1) यदि परमाणु को 'पर मानते हैं तो इस स्थिति मे परमाणु का विस्तार पृथिवीत्व तक ही होगा, जो असम्भव है। इससे परमाणु की सीमा कम हो जाती है क्योंकि नियम के अनुसार परमाणु की सीमा पृथिवीत्व तक ही नही मानी जा सकती है।

(ii) यदि परमाणु की सीमा पृथिवीत्व तक मान भी लें तो परमाणु का विस्तार पृथ्वी द्वारा निर्मित घडे म परमाणु जाति माननी पडेगी, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से घडे मे परमाणु जाति का निषेध मानना पडता है। कारण यह है कि घडे के परमाणु जाति का होने स उसका अदृश्य होना आवश्यक हो जाता है, परन्तु वह अदृश्य नही है। अत परमाणु को जाति नही माना जा सकता है।

इसके विपरीत यदि पृथिवीत्व को पर और परमाणु को अपर' माना जाय तो यह भी उचित नही कहा जा सकता है क्योकि ऐसी दशा में (क) पृथिवीत्व की परिव्याप्ति परमाणुत्व मे होगी और (ख) परमाणुत्व म पृथिवीत्व की परिव्याप्ति मानने से आकाश वायु आदि मे भी पृथिवीत्व मानना पडेगा, परन्तु ऐसा सम्भव न होने से परमाणु को किसी भी दशा मे 'जाति नही माना जा सकता है। यही वशषिक दशन का सिद्धान्त है।

---

१ व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सकरो थ्नवस्थिति।
रूप हानि रसबन्धो जाति बाधक सग्रह। उदयन।

मम्मट द्वारा इस मत का निराकरण—मम्मट ने इस विचार का खण्डन करते हुए कहा है कि (i) जाति के पर और अपर भेद को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि जिस प्रकार पर और अपर से सम्बन्धित दो जातियाँ एक वस्तु में रह सकती हैं उसी प्रकार पर और अपर से असम्बद्ध दो जातियों की एक ही वस्तु म अवस्थिति भी सम्भव है। केवल दो विरोधी जातियाँ एक साथ एक ही वस्तु म नहीं रह सकती हैं जैसे मनुष्यत्व जाति के संग सिंहत्व जाति का एक ही आश्रय सम्भव नहीं है।

(ii) महाभाष्यकार ने परमाणु की परिभाषा मे इसे गुण न मानकर जाति को ही माना हैं। अत [इसका ख]ण्डन करते हुए मम्मट ने कहा है कि वशेषिक दर्शन म परमाणु का केवल पारिभाषिक 'गुणत्व' ही स्वीकार किया जा सकता है वास्तविक गुणत्व नहीं। अर्थात जैसे 'गुण' और 'वृद्धि' शब्द का सामान्य अर्थ दूसरा होता है तथा वैयाकरणों का पारिभाषिक अर्थ इससे बिल्कुल विपरीत होता है उसी प्रकार परमाणु का पारिभाषिक अर्थ इससे बिल्कुल विपरीत होता है उसी प्रकार परमाणु का पारिभाषिक 'गुणत्व' ही स्वीकार किया जा सकता है, वास्तविक नहीं। वास्तव मे तो इसे जाति ही कहेंगे गुण नहीं।

गुण क्रिया यदृच्छा मे संकेतग्रह की शंका और निवारण—यहीं पर पूर्वपक्षी क एक और शंका को उपस्थित करते हुए मम्मट न उसका निराकरण किया है। पूर्वपक्षियों के कथन के अनुसार गुण क्रिया और यदृच्छा मे संकेत का ग्रहण करना ठीक नहीं होगा क्योंकि गुणादि व्यक्तियों के समान अनन्त होते हैं तथा गुणों की स्थिति कभी किसी विशेष परिस्थिति म एक वस्तु में रहती है और दूसरी परिस्थिति म उसी वस्तु में नहीं भी रहती है। अत सभी व्यक्तिपरक शुक्लादि गुणो म संकेत ग्रहण करने से पूर्व कथित 'आनन्त्य' और व्यभिचार नामक दोष उत्पन्न हो जायगा।

समाधान—मम्मट न इसका समाधान अच्छी प्रकार किया है इनके विचार से गुण आदि मे जो अन्तर दीख पडता है, वह वास्तविक न होकर प्रातिभासिक मात्र होता है। जिस प्रकार एक ही मुख को जल, तल, मुकुर खड्ग आदि मे हम विभिन्न रूप म देखते हैं अर्थात कभी वह समतल कभी उठा हुआ कभी नत दिखाई पडता है उसी प्रकार गुण, क्रिया यदृच्छा की भी स्थिति समझनी चाहिए अर्थात् आश्रयभेदसे जसे मुख विभिन्न रूप मे प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार आश्रय भेद से गुण, क्रिया, यदृच्छा आदि अलग-अलग प्रतिभासित

होते हैं।[1] उदाहरण के लिये काग, शुक्ति रजत आदि में शुक्ल गुण की जो अलग अलग सत्ता दीख पड़ती है, वह वास्तविक न होकर इन भिन्न भिन्न वस्तुओं के आश्रय से ही भिन्न भिन्न रूप में दिखाई पड़ती हैं। वास्तव में तो 'शुक्लत्व सामान्य' गुण की प्रतिष्ठा एक ही रूप में सभी पदार्थों में रहती हैं। अतः तात्विक दृष्टि से गुण, क्रिया यदृच्छा में आनन्त्य और व्यभिचार दोष नहीं माना जा सकता है क्योंकि प्रतिभासिकी सत्ता वास्तविक सत्ता कभी नहीं हो सकती है। अतः इन दोषों का समाधान नहीं माना जा सकता है तथा गुण, क्रिया और यदृच्छा में संकेत ग्रह मानना उचित है।

मीमांसकों का जातिरेव या' का स्पष्टीकरण—वैयाकरणों और आलंकारिकों ने 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो' अर्थात् संकेतित अर्थ चार प्रकार का जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप माना है जिसका प्रतिपादन ऊपर किया गया है, परन्तु मीमांसकों की दृष्टि में संकेतित अर्थ केवल 'जातिरूप' ही माना जाता है। इस प्रकार शब्दों की चतुर्विध प्रवृत्ति को न मानकर इन्होंने केवल जातिगत प्रवृत्ति को ही माना है। इसी से इन मीमांसकों ने गुण, क्रिया और यदृच्छा की जाति रूपता का समर्थन किया है। मीमांसकों की इस विचारधारा को मानने वालों के चार वर्ग किये जा सकते हैं—

१ भाट्ट मीमांसक
२ श्रीकर का मत
३ मण्डन मिश्र का मत
४ प्रभाकर का मत

(१) इनमें भाट्ट मीमांसकों के अनुसार अभिधा द्वारा 'जाति' में संकेत-ग्रह होता है। 'पदों से जाति का ही संकेत हो सकता है व्यक्ति का नहीं।'[2] इनके अनुसार व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से होता है। और यह आक्षेप जाति द्वारा ही सम्भव है। आक्षेप से इन्होंने अनुमान अथवा अर्थापत्ति का अर्थ ग्रहण किया है। पार्थसारथि मिश्र ने भी इसका समर्थन किया है कि 'शब्द' में सर्व प्रथम जाति की ही प्रतीति होती है उसके बाद वह किसी व्यक्ति विशेष का

---

१ गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एक रूपाणामप्याश्रयभेदाद्भेदन लक्ष्यते यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्। का० १ दूसरा उल्लास—वृत्ति भाग।

२ मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिः। 'शक्तिवाद'।

आरोप कर लेती है।"[1] अर्थात शब्द से पहले जाति का बोध होता है और बाद में जाति ही व्यक्ति का बोध करा देती है।

(२) शीकर के मत से भी पदो से जाति का ही बोध होता है और हम व्यक्ति का बोध उपादान से करते हैं। अर्थात जब आंशिक अर्थ बोध से हम पूरे अर्थ का बोध कर लेते हैं तो वहाँ उपादान कहा जायगा। इसी से उपादान लक्षणा प्रस्तुत किया जाता है, जैसे-'गो (गोत्व जाति विशिष्ट) जाता है'-का अर्थ गो जाति रूप व्यक्ति विशेष जाता है-होगा, इस प्रकार उपादान भी अर्थापत्ति का ही दूसरा रूप है।

(३) मडन मिश्र ने पद से पहले जाति का बोध और बाद मे व्यक्ति का बोध माना है। इस व्यक्ति बोध मे उपादान लक्षणा काम करती है। अर्थात पद से पहले जाति का बोध और बाद मे लक्षणा शक्ति से व्यक्ति का बोध हो जाता है क्योंकि व्यक्ति ही प्रवृत्तिनिवृत्ति योग्य होता है, जाति नही क्योंकि जब हम गो का प्रयोग करते हैं तो नित्य होने से जाति की सत्ता का ज्ञान यहाँ न होकर जातिगत सकेत से व्यक्ति का ही बोध माना जाता है। इसके समर्थन मे कहा गया है कि वेद के विधि वाक्यो का व्यवहार मे यदि जातिगत अर्थ लिया जाय तो वह उपयुक्त प्रतीत नही होता है उदाहरण स्वरूप उन्होंने 'गारनुवन्ध्य' गो' का मारना चाहिए वाक्य को प्रस्तुत किया है, यहा गो का शाब्दिक सकेत गोत्व जाति है, परन्तु गोत्व जाति का मारा जाना सम्भव नही है क्योंकि जाति एक सूक्ष्म भाव का द्योतक है। और वेद का आदर्श ज्ञान से इस वाक्य को असत्य नही कहेगे। अत जाति मे लक्षणा के द्वारा व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। साक्षात् पद के द्वारा व्यक्ति का अभिधया बोधन कभी नही हो सकता है। क्योंकि जाति रूप विशेषण का बोध करा देने के उपरान्त शक्ति के क्षीण हो जाने पर अभिधा विशेष्य रूप व्यक्ति तक नही जा सकती है। अत 'गोरनुवन्ध्य" का अर्थ गायपरक 'गोत्व' का वध करो और बाद मे उपादान लक्षणा से इसका यह अर्थ होगा कि 'गोत्व विशिष्ट (गो जाति युक्त) गो-व्यक्ति का वध करो।"

मम्मट ने खडन करते हुये इस विचार पर अपनी असहमति प्रकट की है। इसमे लक्षणा मानना उचित नही है, क्योंकि लक्षणा में सदव रूढि या

---

१ व्यक्तिप्रतीतिरस्माक जातिरेव तु शब्दत ।
प्रथमावगता पश्चाद् व्यक्ति या काचिदाक्षिपेत्। न्यायरत्नमाला वाक्य निर्णय का० ५-३८

प्रयोजन मे से अन्यतर का होना आवश्यक है। इसमे कोई भी नही है। अत यहाँ उपादान लक्षणा से व्यक्ति का ग्रहण न होकर जाति के सग व्यक्ति के अविनाभाव सम्बन्ध से ही जाति से व्यक्ति का ग्रहण होता है। जस 'इस काय को करो इसमे क्रिया के लिये तुम' कर्त्ता का अविनाभाव स बोध हो जाता है। उसी प्रकार गोत्व से गो व्यक्ति का बोध भी अविनाभाव द्वारा ही होगा। यही मम्मट ने बताया है और उपादानवाद का खण्डन किया है।

(४) प्रभाकर ने पद से जाति का ज्ञान तथा इस ज्ञान के साथ ही स्मरण द्वारा व्यक्ति का बोध माना है। पद द्वारा जाति का निर्विकल्पक ज्ञान होता है और उसके साथ ही स्मरण द्वारा पद के श्रवण से व्यक्ति के सम्बन्ध ज्ञान का स्मरण हो जाता है। अर्थात जाति का विशेष्य ज्ञान के कारण ही व्यक्ति की स्मृति बिना सम्बन्ध ज्ञान के भी आसानी से हो जाती है।

सक्षेप स मीमासको के चार मतो की चर्चा की गई। इनमे सभी पद से जाति' का ही बोध मानत हैं। हाँ व्यक्ति बोध किस प्रकार होता है, इस सम्बन्ध मे उनमे अवश्य ही कुछ मत भिन्न है। भाट्ट मीमासको ने व्यक्ति का बोध आक्षेप से श्रीकर ने उपादान से, मडन मिश्र ने लक्षणा से, और प्रभाकर भट्ट ने स्मरण द्वारा माना है। अत व्यक्ति बोध के आधार के सम्बन्ध म मतभेद होते हुए भी सभी मीमासक इस सम्बन्ध म एक मत है कि पद स जाति का ही बोध होता है अत आवश्यक हो जाता है कि वयाकरणो ने शब्द की जो चार प्रवत्ति जाति गुण, क्रिया यदृच्छा माना है उन सबका एक ही म अर्थात जाति मे ही समावेश कर दिया जाय। इसी स अब गुण, क्रिया और यदृच्छा की जातिरूपता का समर्थन मीमासको के अनुसार किया जायगा।

मीमांसक मत—जातिरेव का समर्थन—

गुण की जातिरूपता—मीमासको ने केवल जाति म ही सकेतग्रह माना है इसके अनुसार जाति शब्दों के समान ही गुण क्रिया और यदृच्छात्मक शब्दों के भी जाति मे ही सकेतग्रह मानना चाहिय। जाति का ही अन्य नाम 'सामान्य' है। सामान्य का लक्षण करते हुये कहा गया है कि अनुगत प्रतीति का हेतु सामान्य' कहा जाता है। 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु सामान्यम्।' जसे दश घट व्यक्तियो म घट' की जो अनुवृत्ति होती है उसका कारण घटत्व सामान्य ही है, इसी प्रकार यदि शुक्ल गुण विभिन्न स्थानो पर हो तो भी 'शुक्लत्व' रूप सभी स्थानों पर सामान्य ही होगा। अनुभव द्वारा यह सिद्ध है कि भिन्न भिन्न पदार्थो म रहने वाला जो 'शुक्ल' गुण है उसकी प्रतीति म स्पष्ट अन्तर

रहता है, फिर भी उन पदार्थों को देखकर हम 'शुक्ल' शब्द का ही प्रयोग करते हैं इसका कारण यह है कि विभिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्ल गुण को हम इसी कारण शुक्ल कहते हैं कि उसमें 'शुक्लत्व सामान्य' रहता है। जिसके कारण हम उसे पहचान लेते हैं। यह सामान्य नित्य और अनेक में समवतधर्म होता है। "नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्व सामान्यम्" । अत विभिन्न वस्तुओं में अवस्थित शुक्लत्व को जो भिन्न भिन्न है, उसे सामान्य माना जा सकता है। अर्थात शुक्लत्व के भिन्न रूप होने पर भी जो हम विभिन्न वस्तुओं को देखकर 'शुक्ल शुक्ल' इस प्रकार का कथन करते हैं, उनका एकमात्र कारण यही शुक्लत्व सामान्य अथवा जाति है। इस प्रकार गुण में जातिरूपता का प्रतिपादन किया गया। उदाहरण के लिये बर्फ, दुग्ध, शंख आदि में रहने वाले शुक्ल गुण देखने से स्पष्ट रूप में भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। फिर भी इन विभिन्न पदार्थों को देखकर शुक्ल शुक्ल इस प्रकार एकाकार कथन होता है और उनकी प्रतीति भी शुक्लत्व रूप में ही होती है।[1] इस एकाकार कथन एवं प्रतीति का कारण 'शुक्लत्व सामान्य' ही माना जाता है। अत स्पष्ट है कि गुणों में भी एक जातित्व अथवा सामान्य अनुगत प्रतीति होती है और उसे ही 'जाति' कहते हैं और गुणों की इस जाति में ही सकेत का ग्रहण होता है। कहने का भाव यह है कि हिम, पय, और शंख की श्वतिमा में प्रत्यक्ष रूप से भेद प्रतीत होता है किन्तु इन सभी पदार्थों में धवलता (सफेदी) नामक तत्व समान दिखाई पड़ता है। इन पदार्थों को देखकर धवलता के अतिरिक्त अन्य वर्ण की चर्चा कोई भी उनके सम्बन्ध में नहीं कर पाता है। अनेक पदार्थों में समान रूप से प्राप्त होने के कारण यह धवलता मात्र गुण न रह कर जाति ही हो जाता है और जब गुण भी जाति के लक्षणों से युक्त हो जाता है तो उसे 'जाति' मानना ही पड़ेगा, इस प्रकार गुणों की जातिरूपता का प्रतिपादन किया गया।

क्रिया की जातिरूपता—मीमांसक क्रिया को भी जातिरूप ही मानते हैं। क्योंकि सभी क्रियाओं में एक जातिरूपता पायी जाती है, उदाहरणस्वरूप गुड़ पकाना, तण्डुल पकाना आदि क्रियाएं विभिन्न हैं, परन्तु उन सबकी विभिन्नता में भी पकाना रूप क्रिया सबमें समान रूप से विद्यमान है साथ ही अनेक भी है अत इस अनेकत्व एवं समानरूप के कारण यहाँ पकाना क्रिया भी

---

१ हिमपयशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु, यद्वशेन, शुक्ल शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। का० प्र० दूसरा उल्लास

'जाति ही कही जायगी।'[1] इस प्रकार पकाना क्रिया सब में समान रूप होने से क्रिया की जातिरूपता की भी सिद्धि हो जाती है।

यदृच्छा शब्दों में जाति का प्रतिपादन— शंका-यदृच्छा शब्द में जाति का प्रतिपादन करने में कुछ कठिनाई हो सकती है, क्योंकि यह व्यक्ति विशेष का वाचक रूढ शब्द होता है, व्यक्तियों का वाचक नहीं। जाति के स्वरूप को बताते हुये कहा गया था कि अनेक में समवेत धर्म अर्थात् अनेक व्यक्तियों में रहने वाले धर्म को ही जाति कहेंगे, परन्तु यदृच्छा में 'अनेक-समवेतत्व' नहीं है अतः इसमें जातिरूपता कैसे सिद्ध की जा सकती है।

समाधान—इस शंका का समाधान भी मीमांसकों ने करते हुए कहा है कि यदृच्छा के परिणामस्वरूप मनाए जातिरूप हैं। मीमांसकों ने (i) उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के भेद से यदृच्छात्मक शब्द में भी भेद माना है। (ii) जिस व्यक्ति का उच्चारण किया जाता है वह व्यक्ति भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है क्योंकि वह सदैव बालक, युवा वृद्ध आदि रूपों में परिवर्तित होता रहता है। कहा भी गया है कि 'एक चेतनसत्ता को छोड़कर सारे पदार्थ परिवर्तन शील हैं।' इसी प्रकार एक बालक जब डित्थ शब्द का उच्चारण करता है, अथवा वृद्ध या शुकादि द्वारा उच्चरित प्रतिक्षण भिद्यमान डित्थ के उच्चारण में जब हम एक ही डित्थ का बोध करते हैं तो इसका कारण 'डित्थत्व' सामान्य है अर्थात् बालक वृद्ध, शुकादि द्वारा उच्चरित डित्थ शब्द में भेद होता हुआ भी तथा बालक युवा और वृद्ध डित्थ में भेद होने पर भी सबके उच्चारण में डित्थत्व समान रूप से वर्तमान रहता है।[2] अतः डित्थत्व की जातिरूपता सिद्ध हो जाती है और इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार शब्द के चार प्रकार (जाति, गुण क्रिया और यदृच्छा) न होकर केवल 'जातिरूप' एक ही प्रकार होगा। इस प्रकार यहाँ तक मम्मट की कारिका 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जातिरेव वा' की व्याख्या की गयी। मम्मट द्वारा इस मत का खंडन-मीमांसकों के केवल 'जाति' में संकेत मानने वाले इस मत का समर्थन मम्मट ने नहीं किया है। इसी से इस मत का खण्डन मम्मट ने किया है।

---

१ गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेकमेव पाकत्वादि (सामान्य)।' का० प्र० दूसरा उ०।

२ बाल्यवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षण भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्ति निमित्तमित्यन्ये।" का० प्र० उ० २, पृ० ४८

(१) जात्यादिवादी होने के कारण मम्मट ने मीमांसकों के 'जातिवादी' मत का खण्डन करते हुये पूर्वपक्षियों की कई धारणाओं का खण्डन किया है। सर्वप्रथम मीमांसकों के द्वारा उठाये गये जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा में आनन्त्य और व्यभिचार दोषों का परिमार्जन किया गया है।

गुण की जातिवादिता का खण्डन

(२) मीमांसकों द्वारा दी गयी 'जाति' की परिभाषा पर भी आपत्ति उठाई गयी है। मीमांसकों के अनुसार "भिन्नेषु अभिन्नाभिधानप्रत्यय हेतु जाति" अर्थात् जाति वह विशेषता है जिसके द्वारा हम अनेक वस्तुओं में एक तत्व का प्रत्यय अथवा विश्वास और एक अभिधान या आभास होता है। मम्मट ने कहा है कि ये परिभाषा केवल आश्रयों पर लागू होती है, आश्रितों पर नहीं। गुण क्रियादि के आश्रय सदैव द्रव्य होते हैं अतः जाति केवल द्रव्य में रहती है। जहाँ पर भिन्न भिन्न द्रव्यों में संस्थान अवस्थान परिमाण और वर्णगत भेद होगा, मूल द्रव्यगत नहीं वहाँ पर वे एक जाति के ही कहे जायगे। किन्तु जहाँ मूल द्रव्यगत भेद होगा वहाँ हम एक जाति का नहीं मानेंगे उदाहरण के लिये गौ का आकार परिमाण और वर्ण का भेद होते हुए मूल द्रव्य गोत्व के कारण वह जाति कहा जायेगा, किन्तु शुक्लत्व या पाकत्व आदि जिन भेदों की चर्चा मीमांसकों के उपर्युक्त मत में किया गया है वे सहज नहीं है। भाव यह है कि पहले दिये गये हिम, पय, शंख आदि के उदाहरणों में संस्थान Arrangement of their parts अवस्थान Position, परिमाण Size और वर्ण Colour में भेद के साथ ही साथ उन मूल द्रव्यों में भी भिन्नता रहती है। अतः इन सबको हम एक जाति का नहीं कह सकते हैं। फल यह निकला कि हिम पय और शंख के समान द्रव्य न होने में तथा उनके मूल में भिन्नता होने के कारण उनमें वर्तमान धवलता को हम 'जाति' नहीं मान सकते हैं।

क्रिया की जातिरूपता का खण्डन—इसी प्रकार पाक क्रियाओं में भी 'पाकत्व क्रिया' को जाति नहीं कहा जा सकता है। सभी में पाक क्रिया समान है परन्तु पकाये जाने वाले गुड, तण्डुल मांसादि द्रव्यों में भिन्नता है। अतः इसे भी जाति नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार डित्थादि का उच्चारण करने वाले चाहे भिन्न हों पर डित्थ तो एक ही रहता है अतः डित्थत्व को भी जाति नहीं माना जा सकता है। इस आधार पर मीमांसकों द्वारा मान्य यह मत कि गुण, क्रिया और यदृच्छा जाति रूप हैं खण्डित हो जाता है और जात्यादि शब्द के चार रूपों की स्थापना हो जाती है।

गो नयायिकमत जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत—नयायिकों के अनुसार संकेत न तो जाति में होता है और न व्यक्ति में, अपितु जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेत माना जा सकता है। जाति में प्रवृत्ति निवृत्ति की योग्यता न होने से जीवन में इसका प्रत्यक्ष उपयोग नहीं होता। यथा यदि कोई जल पीना चाहे तो घटत्व से जल नहीं पी सकता है। अत जाति में अर्थ क्रियाकारित्व का अभाव होने से केवल जाति में भी संकेत ग्रहण नहीं कर सकते। यदि इसके विपरीत केवल व्यक्ति में ही संकेत मानें तो आनन्त्य और व्यभिचार तथा विषय विभाग दोष उत्पन्न हो जायेगा। अत जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही संकेत ग्रह मानना चाहिए।

गोतम मुनि ने इसी मत का समर्थन इन शब्दों में किया है कि पद का अर्थ किसी वस्तु की जाति व्यक्ति और आकृति के सम्मिलित रूप में है।[1] अर्थात व्यक्ति और जाति के सम्मिलित रूप में ही संकेत हो सकता है। यदि केवल जाति में ही संकेत मानें, तो व्यक्ति का ज्ञान होना सम्भव नहीं हो सकता है। अत अर्थ का ज्ञान करते समय जाति से व्यक्ति का भी ग्रहण हो जाता है। क्योंकि जब भी हम किसी पद का प्रयोग करते हैं तो हमारा मूल उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष से ही रहता है। यह बात दूसरी है कि उस व्यक्ति में जाति अवश्य रहती है। उदाहरण के लिए मीमांसकों के अनुसार गाय जाति है वाक्य में गाय का अर्थ गोत्व है जो जातिवाचक है। और जाति के सूक्ष्म भाव होने से उसमें नाना क्रिया का अन्वय घटित नहीं हो पाता है अत नयायिकों के अनुसार यह अर्थ होगा कि "गोत्व जाति युक्त गो व्यक्ति विशेष जाता है।" इसमें व्यक्ति में क्रिया का घटित होना भी सम्भव है तथा इसमें जातित्व का भी योग रहता है। अत जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही संकेत का ग्रहण मानना चाहिये यही नयायिकों के मत का सारांश है। इसी मत का संकेत मम्मट ने 'तद्वान' शब्द द्वारा किया है।

(घ) बौद्धों का अपोहवाद—इस मत के लोगों ने बताया है कि व्यक्ति में आनन्त्य और व्यभिचार दोष के कारण संकेतग्रह नहीं हो सकता है और जाति में भी सम्भव नहीं है क्योंकि बौद्धों ने 'सर्व क्षणिकम्' के सिद्धान्त को माना है अत जाति को भाव पदार्थ मानने से वह क्षणिक होता है और यदि अभाव पदार्थ मानते हैं तो संकेत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, इस प्रकार बौद्धों द्वारा उच्चरित घट पद का इतना ही अर्थ होगा कि यहाँ एक क्षणिक

---

१ व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ । न्यायसूत्र गोतम ।

पदार्थ है तथा यह घट के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों से भिन्न है। यही बौद्धों का अपोह या 'अतद्व्यावृत्ति' कहा गया है। अर्थात् अन्य पदार्थों के निराकरण से बचे हुए पदार्थ में ही शब्द का संकेत ग्रहण हो सकता है। इसी का संकेत मम्मट ने 'अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति' के द्वारा किया है।

मम्मट ने व्याकरणों के विरोधी सभी संकेतग्रह विषयक मतों का खण्डन करके अपने जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छात्मक चार प्रकार के शब्दों की प्रतीति का का समर्थन किया है और इन्हीं चारों की उपाधियों में संकेत ग्रह माना है इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर संकेतग्रह के साधनों पर विचार किया जायगा।

शक्तिग्रह के साधन—सिद्धान्त मुक्तावली में संकेतग्रहों के आठ साधनों के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। ये साधन व्याकरण, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष विवृत्ति सिद्ध पद का सानिध्य और उपमान हैं।[1] इनमें से किसी भी एक साधन से शक्ति का ग्रहण हो सकता है।

व्याकरण—किसी भी वाक्य में जब पद का प्रयोग होता है तो उस पद के सुप्, तिङ्, प्रत्यय प्रकृति आदि व्याकरणिक सम्बन्ध का ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही होता है। जैसे कहा जाय कि 'वर्तमाने लट्' तो यहाँ वर्तमान में लट् का प्रयोग शक्तिग्राहक हो होगा।

उपमान—किसी ने गाय को देखा हो पर नील गाय न देखा हो तो उपमान के आधार पर समझाया जा सकता है कि गोसदृश गवय अर्थात् गो के समान ही गवय होता है अतः यहाँ उपमान से ही शक्ति का ग्रहण होता है।

कोश—पद का विभिन्न अर्थ में प्रयोग कोश देखकर भी निश्चित किया जा सकता है।

आप्तवाक्य—आप्त लोगों के वचन से भी हम संकेत का ग्रहण कर लेते हैं। पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान भी आप्तवचन से ही होता है। साथ ही किसी के लिये यदि कोई वृद्ध कोई विशेष नाम दे देता है, तो इसका प्रचार भी आप्तवाक्य होने से ही होता है और उस रूप से किसी विशेष के ही संकेत का ग्रहण हो पाता है।

---

१ शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सानिध्यतः सिद्धपदस्य सिद्धाः॥
सि० मुक्तावली

वाक्य-शेष—जहाँ किसी दूसरे वाक्य से एक वाक्य के अर्थ का ग्रहण हो अर्थात् यदि दो या अधिक वाक्य एक साथ प्रयुक्त हुए हों और उनमें से किसी पद का कई अर्थ होता है, तो ऐसी दशा में दूसरे वाक्य से उस पद का संकेतग्रह सन्दर्भ के अनुकूल उचित ढंग से हो जाता है।

विवृति—जहाँ संकेतग्रह के लिए व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ती हो और इस प्रकार अर्थ समझ में आ जाता है।

सिद्ध पद का सान्निध्य—जहाँ एक पद को सिद्ध करके उसके संसर्ग से दूसरे पद के अर्थ का ग्रहण हो जाय। जैसे 'वसन्ते पिकः कूजति' में पिक शब्द का अर्थ कोयल ही होगा, क्योंकि सिद्ध पद 'वसन्त' के संसर्ग से इसका यही अर्थ ग्रहण होगा, अन्य अर्थ नहीं।

व्यवहार—संकेतग्रह के साधनों में व्यवहार बहुत अधिक महत्व रखता है। प्रभाकर मीमांसकों ने इसी व्यवहार के आधार पर अपने अन्विताभिधान वाद का मण्डन किया है। इनके अनुसार व्यवहार की यह क्रिया बालकों द्वारा पदों से अर्थ ज्ञान की प्रक्रिया में आसानी से देखी जा सकती है। कोई बालक द्वारा कहे गये वाक्य के अर्थ को समझकर अपने बड़े भाई को गाय आदि पदार्थ लाते देखता है और उसके उस व्यवहार को देखकर उस वाक्य का अर्थ समझ लिया करता है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति ये तीन प्रमाण काम करते हैं। यही वाक्यों द्वारा संकेत ग्रह का साधन है और इसे 'व्यवहार' की संज्ञा दी गई है।

लक्षणा विचार

लक्षणा स्वरूप—दनिक जीवन में तथा साहित्य मे भी हम ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका मुख्याथ ठीक नही बठ पाता है अर्थात शब्दों के सग उसके प्रचलित अथ की सगति नही बठ पाती है। वह साक्षात् सकेतिक अथ से असम्बद्ध प्रतीत होता है और उसका सीधा बोल चाल या लोक में प्रचलित अथ का ग्रहण नही हो पाता है। अत इस मुख्याथ या वाच्याथ से सम्बन्धित एक अ य अथ को हम ग्रहण कर लेते हैं जो प्रकरण सम्मत होता है। इस अथ को ग्रहण करन म या तो कोई लौकिक-व्यवहार रूढि कारण होता है अथवा वक्ता अपने प्रयुक्त शब्दों द्वारा किसी प्रयोजन विशेष को व्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार जो एक दूसरे अथ का बोध होता है उसे ही हम लक्ष्याथ कहते हैं। इसका बोध कराने वाली शब्द की जो शक्ति है उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं और उस शब्द को लाक्षणिक शब्द कहा जाता है।

उदाहरण क लिये रणजीतसिंह पञ्जाब के शेर थ', वाक्य में एक मानव के सग शेर की सगति ठीक न बठने के कारण इसका अभिधेयाथ न ग्रहण करके लक्ष्याथ ही ग्रहण किया जाता है। इस वाक्य मे लक्षणा नामक शक्ति से ही शेर की क्रूरता और शौय का ज्ञान हो जाता है जो प्रस्तुत प्रसग के अनुकूल है। ऐसे शब्दों का प्रयोग एक विशेष प्रयोजन से ही यहा किया गया है। इसी प्रकार 'वह मेरे अनुकूल हैं वाक्य मे अनुकूल शब्द का व्युत्पत्तिगत अथ यह है कि जो कूल के विपरीत न हो अर्थात जलाशय की ऐसी लहर जो किनारे का न काटे। धीरे धीरे यह अनुकूल शब्द किसी भी रुचिकर क्रिया या वस्तु का उपचार से बोधक हो गया और लोक व्यवहार मे भी इसका प्रयोग इसी अथ मे होने लगा। इसी प्रकार लावण्य और अनुलोम आदि शब्दों की दशा समझनी चाहिये। लक्ष्याथ का सम्ब ध मुख्याथ से किसी न किसी रूप म अवश्य बना रहता है।

लक्षणा के तत्व—लक्षणा के काय व्यापार क लिए उसमे तीन तत्वों का होना अनिवाय माना जाता है।

१ मुख्याथ बाध—शब्द के साक्षात सकेतित अथ का प्रयुक्त वाक्य म अन्वयानुपपत्ति का होना अर्थात् जिस शब्द से लक्ष्याथ का ज्ञान होता है, उस

शब्द की संगति प्रयुक्त अन्य शब्दों के साथ बैठ नहीं पाती। इससे सीधा अर्थ समझ में नहीं आता।

२ तद्योग—जब मुख्यार्थ का सम्बन्ध अन्य शब्दों के अर्थों से नहीं बैठता है, तब उसी से सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को हम ग्रहण कर लेते हैं। इसमें लक्ष्यार्थ का आधार वाच्यार्थ ही होता है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ की परम्परा से होकर ही प्राप्त हो पाता है।

३ रूढ़ि का प्रयोजन—जब वाक्य के शब्दों से हम किसी ऐसे अर्थ का ज्ञान कराना चाहते हैं जिससे अर्थ की संगति नहीं बैठती है तो इस प्रयोग की उपयोगिता सिद्ध करने के लिये ही कोई अन्य आधार ग्रहण करते हैं। प्रथम उस प्रयुक्त शब्द का किसी विशेष अर्थ में प्रसिद्ध हो जाना और द्वितीय उस शब्द के प्रयोग से वक्ता के किसी विशेष प्रयोजन का सिद्ध होना। आचार्य मम्मट ने इन तीनों हेतुओं का समर्थन करते हुए कहा है कि "मुख्यार्थ बाध अर्थात् अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति का होना तथा मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होना तथा रूढ़ि का प्रयोजन में से किसी एक का होना—इन तीनों से युक्त होकर जिस शब्द शक्ति द्वारा किसी अन्य अर्थ का लक्षित होना सम्भव होता है, उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं।"[1] आचार्य विश्वनाथ ने भी इसका समर्थन करते हुए मुख्यार्थ बाध तद्योग और रूढ़ि या प्रयोजन में से किसी एक का होना आवश्यक माना है।[2] इस प्रकार यह व्यक्त हो जाता है कि लक्षणा के लिये इन तीनों तत्वों का होना अनिवार्य है। यदि इनमें से कोई भी एक न हो तो ऐसी दशा में लक्षणा शक्ति का व्यापार नहीं माना जायगा। इसीसे काव्य-प्रकाश की बालबोधिनी टीका में इन तीनों के लिये एक वचन 'हेतु' का प्रयोग किया गया है, 'हेतवः' का नहीं। अतः अलग-अलग प्रतीत होने वाले ये तीनों ही तत्व वास्तव में एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिये मिलकर काम करते हैं। इनका सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का माना जायगा जो सम्बन्ध घट के निर्माण में दण्ड, सूत्र, कुम्हार और मिट्टी में है। जैसे एक के भी अभाव में घट निर्माण सम्भव नहीं है उसी प्रकार लक्षणा के लिये भी मुख्यार्थ बाध तद्योग, रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर का होना आवश्यक है।

---

१ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ काव्य प्रकाश २/९ पृष्ट ५१

२ मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथा योऽन्यः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ साहित्य दर्पण परि० २

लक्षणा के सम्बन्ध में वृत्तिवार्तिककार का भी लगभग यही मत है। इसमें मुख्यार्थ के सम्बन्ध से शब्द के प्रतिपादकत्व का समर्थन किया गया है।[1] परन्तु श्लोकवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने लक्षणा के सम्बन्ध में एक दूसरी ही बात कही है। उनके अनुसार अभिधेय से अविनाभूत जो प्रतीति हो, उसे ही लक्षणा कहा जा सकता है।[2] मीमांसक कुमारिल भट्ट के इस विचार में 'प्रतीति' को लक्षणा कहा गया है, परन्तु मम्मट के अनुसार प्रतीति अथवा किसी प्रकार की प्रतिपत्ति (ज्ञान) लक्षणा नहीं हो सकती है। लक्षणा तो शब्द का एक व्यापार है। कुछ लोगों ने कुमारिल भट्ट की परिभाषा में भी शब्द के व्यापार का होना सिद्ध किया है। ऐसे लोगों के अनुसार 'प्रतीति' का अर्थ 'प्रतीति का कारण भूत' व्यापार माना गया है। इस शब्द का विग्रह करते हुए कारण में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर "प्रतीयतेऽर्थोऽनया इति प्रतीति," इस प्रकार कहा गया है। अतः इस विग्रह में स्पष्ट रूप से शब्द व्यापार का ही संकेत मिलता है।

मुख्यार्थ बाध के रूप—अन्वयानुपपत्ति—ऊपर की पंक्तियों में मुख्यार्थ-बाध की जो चर्चा की गई है उस सम्बन्ध में दो मत हैं—

१ काव्य प्रकाश के टीकाकारों का मत—इनके अनुसार प्रयुक्त शब्दों से जहाँ अन्वय की अनुपपत्ति हो अर्थात् जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उनके साक्षात् संकेतित अर्थ को ग्रहण करने से उस वाक्य का अन्वय ठीक नहीं बैठ पाता है वहीं मुख्यार्थ का बाध माना जायगा। उदाहरण के लिये "गंगायां घोष" वाक्यांश में गङ्गायाम्पद का अर्थ गङ्गा की धारा और 'घोस' पद का अर्थ घोसियों की बस्ती है। वाक्यांश में गङ्गा की धारा में जिन घोसियों की बस्ती की बात कही गई है, उनका धारा में आधार बनने की क्षमता नहीं है। अतः अन्वय ठीक ठाक नहीं बैठ पाता है अर्थात् प्रयुक्त शब्दों द्वारा जिन अर्थों का ग्रहण होता है, वे अर्थ मिलकर अपने अभिधेय रूप में अन्वित नहीं हो पाते हैं। और मुख्यार्थ का बाध हो जाता है इसी से सम्बन्धित हम एक दूसरे अर्थ का ग्रहण कर लेते हैं जो अन्वय के उपयुक्त होता है। यहाँ गङ्गायां पद' से 'गङ्गातीर' का अर्थ लेते हैं। तीर में बस्ती के आधार बनने की क्षमता रहती ही है। अतः अन्वय भी ठीक बैठ जाता है।

---

१ सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्। वृत्तिवर्तिक १५

२ अभिधेयविनाभूत प्रतीतिलक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तिरिष्टा तु गौणता॥ कुमारिल भट्ट

नागेशभट्ट का मत—तात्पर्यानुपपत्ति—नागेश भट्ट ने इस अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज नहीं माना है। उन्होंने तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का प्रमुख हेतु माना है। अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने कहा है कि यदि कोई बाहर जाते समय व्यक्ति घर पर रहने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में किसी मित्र से यह कहे कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौवे से दही को बचाना), तो इस कथन का तात्पर्य उद्देश्य केवल कौवे से ही दही को बचाने का नहीं है अपितु दही को नष्ट करने वाले किसी भी प्राणी या जन्तु से बचाने का अभिप्राय है। अतः वक्ता के तात्पर्य को समझकर ही प्रस्तुत वाक्य का अर्थ-ग्रहण होना चाहिए। यदि तात्पर्यानुपपत्ति न स्वीकार कर अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानें, तो ऐसी दशा में इस वाक्य में लक्षणा नहीं हो सकेगी क्योंकि यहाँ पर प्रस्तुत शब्दों का अन्वय ठीक बैठ जाता है और तात्पर्यानुपपत्ति मानने से 'दही का विनाश करने वाले' किसी भी प्राणी के अर्थ में लक्षणा हो जाती है। अतः नागेश भट्ट के मत से तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये, अन्वयानुपपत्ति को नहीं।

संयोग—मुख्यार्थ बाध के साथ मुख्यार्थ से योग को भी स्वीकार किया गया है। जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' वाक्य में अचेतन कुन्त भालों के प्रवेश क्रिया सम्भव नहीं है इसलिए मुख्य अर्थ की संगति ठीक नहीं बैठती है। इस बाधा को दूर करने के लिये उससे सम्बन्धित एक अन्य अर्थ का आक्षेप से बोध कर लिया जाता है। यहाँ भाले का तात्पर्य भाले से युक्त पुरुष से लगाना ही समीचीन है। इस प्रकार मुख्यार्थ से सम्बन्धित किसी अन्य आक्षेप से ग्रहण किये गये अर्थ में ही लक्षणा होगी।

मुख्यार्थ योग का यह सम्बन्ध आचार्य भर्तृहरि ने पाँच प्रकार का बताया है इसे क्रमशः अभिधेय, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रिया योग कहते हैं—

अभिधेय सम्बन्धात सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

रूढ़ि—के माध्यम से भी लक्षणा का प्रयोग होता है। जैसे "कर्मणि कुशल" का अर्थ है कार्य में दक्ष। कुशल पद का व्युत्पत्तिगत अर्थ इससे भिन्न होता है। 'कुशान् लाति आदत्ते वा इति कुशल' अर्थात् जो कुशा ले आये वह कुशल होगा। कुशा के लाने में भी किसी न किसी प्रकार की दक्षता रहती ही है। उसी दक्षता का ध्यान रखकर 'कुशल' का अर्थ उपचार द्वारा

'दस' माना जाने लगा है। इस पद में दस शब्द से इसका कोई सम्बन्ध न होने से हम इसे व्युत्पत्तिगत मुख्यार्थ बाध मानेंगे। यह भी ध्यान रखना होगा कि कुशल पद इस लक्ष्यार्थ में रूढ या प्रसिद्ध हो गया है। अतः यहाँ रूढि या प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ से भिन्न जो एक अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है उसकी प्रतीति में शब्द का लाक्षणिक व्यापार ही माना जायगा और उस शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित शब्द का व्यापार लक्षणा माना जायगा अर्थात् मम्मट ने लक्षणा को जो सान्तरार्थ निष्ठ शब्द व्यापार माना है, उसका अर्थ यह है कि शब्द और लक्ष्यार्थ के बीच में आने के कारण वाच्यार्थ को सान्तर (स+अन्तर) कहा गया है अर्थात् पहले हम शब्द का प्रयोग करते हैं, उससे वाच्यार्थ की प्रतीति बाद में लक्ष्यार्थ का ग्रहण और इस ज्ञान में शब्द का लक्षणा व्यापार काम करता है। इस प्रकार वाच्यार्थ, शब्द और लक्ष्यार्थ के बोध का अर्थ हुआ और उसे 'सान्तर' कहा गया है तथा लक्षणा-व्यापार इसी वाच्यार्थ पर अवलम्बित रहता है। भाव यह है कि अभिधा की भाँति लक्षणा शब्द का स्वाभाविक व्यापार नहीं है, क्योंकि इसमें स्वाभाविक अर्थ का तो बाध हो जाता है और मुख्यार्थ के सहारे लक्षणा द्वारा एक नवीन अर्थ ज्ञात हो जाता है। इसी से मम्मट ने लक्षणा को आरोपित व्यापार या सान्तरार्थनिष्ठ कहा है। इसका आशय यह है कि मुख्य अर्थ शब्द और लक्ष्यार्थ के बीच में रहने वाला अर्थ है। मुकुल भट्ट ने भी बताया है कि हमें लक्ष्यार्थ का बोध मुख्यार्थ के माध्यम से होता है और मम्मट के शब्दों में लक्षणा को इसी कारण सान्तरार्थनिष्ठ शब्द व्यापार कहा गया है।[1]

प्रयोजन—यदि रूढि नहीं होगी तो शब्द का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए। जैसे 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में 'गङ्गायां' का शाब्दिक अर्थ गंगा में होगा। परन्तु गंगा की धारा में आधारत्व की क्षमता नहीं है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध होगा और इस प्रकार के वाक्य के प्रयोग का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होगा। इससे सामीप्यादि या शैत्य पावनत्वादि का बोध माना जायगा। यदि गंगायां के स्थान पर 'गंगातीरे' का प्रयोग करें तो प्रथम गंगा की जलधारा में जो शैत्य पावनत्वादि धर्म है, उनका बोध नहीं हो पाता

---

१ " तथा गंगायां घोष इत्यादौ प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।' —काव्य प्रकाश उल्लास २ पृष्ठ ५२

है और वक्ता के प्रयोजन इत्यादि के प्रति हम अज्ञान में ही रह जाते हैं। दूसरी बात यह है कि गंगा तट कहने से उसके दूर के भाग का भी अर्थ ज्ञात होता है, जहाँ पर जल की शीतलता का कोई प्रभाव नहीं हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि शैत्य पावनत्व रूप विशेष प्रयोजन का बोध कराने के लिए ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें मुख्य अर्थ गंगा की धारा के भिन्न दूसरा अमुख्य अर्थ गंगा तीर की प्रतीति, एक विशेष प्रयोजन इत्यादि के बोध के लिए ही होती है। स्पष्ट है कि एक विशेष प्रयोजन के लिए ही ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। यहाँ जिस अमुख्य अर्थ का ज्ञान होता है वह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित व्यापार ही है और इसे ही लक्षणा कहते हैं।

लक्षणा भेद—लक्षणा के स्वरूप का निर्धारण हो जाने के बाद उसके भेदों को भी समझ लेना चाहिए। आलंकारिकों में उसके भेदों के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने भी भिन्न भिन्न प्रकार से अपने विचार व्यक्त किये हैं। लक्षणा भेद को बताते हुए आचार्य मम्मट ने उसके छः भेद, वेदान्त में तीन भेद (जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा) किसी ने तेरह भेद (रूढ़ा १ गौणी ४ शुद्धा तथा प्रयोजनवती के ८ भेद), वृत्तिवार्तिककार ने प्रयोजनवती के ७ भेद, विश्वनाथ के मत से १६ भेद हैं। यहाँ पर केवल आचार्य मम्मट के भेदों पर ही विचार किया जायगा।

लक्षणा के आवश्यक तत्वों में रूढ़ि या प्रयोजन में अन्यतर का होना अनिवार्य है। इस आधार पर लक्षणा के रूढ़ि और प्रयोजन ये दो मुख्य भेद हो जाते हैं।

रूढ़ालक्षणा पर विचार—रूढ़ा के उदाहरण में 'कर्मणि कुशल' वाक्य का प्रयोग किया गया है। आचार्य मम्मट के अनुसार इस उदाहरण में लक्षणा के तीनों ही तत्व आ जाते हैं। इससे लक्षणा वृत्ति से ही इस वाक्य का अर्थ बोध होता है। इस वाक्य में प्रयुक्त 'कुशल' पद का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ कुशा को लाने वाले या काम करने वाले से है। यहाँ मुख्यार्थ बाध स्पष्ट रूप से है।

दूसरी बात यह है कि लक्षणा से प्राप्त अर्थ का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य होना चाहिए। 'कुशल' पद में कुश लाने की क्रिया में भी किसी प्रकार की पटुता अवश्य रहती है। इसी आधार पर कुशल पद का दक्ष अर्थ प्रसिद्धि के कारण हो जाता है। इस प्रकार यहाँ मुख्यार्थ का सम्बन्ध भी लक्ष्यार्थ से हो जाता है। तीसरी बात रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर का होना

है। यहाँ यही कहा जायगा कि परम्परा से इस शब्द का प्रयोग होता आया है। इस प्रकार तीनों तत्वों के हो जाने से यहाँ इसे रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण मानेंगे।

विश्वनाथ और हेमचन्द्र का मत – इन दोनों आचार्यों ने इसे रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण नहीं माना है। इसे वे रूढ़ि से रहित होने के कारण 'निरूढ़ा लक्षणा' मानते हैं। 'कर्मणि कुशल' में कुशल पद का दक्ष अर्थ मुख्य अर्थ है आरोपित या गौण अर्थ नहीं है।[1] जो लोग (मम्मट) इसे गौण मानते हैं उसका यही कारण हो सकता है कि इसका व्युत्पत्ति मूलक अर्थ दक्ष या पटु शब्द के अर्थ से भिन्न होता है, किन्तु व्युत्पत्तिमूलक अर्थ मुख्य अर्थ नहीं माना जा सकता है। जैसे गो सेते वाक्य में इसके मत से 'जो चलता है, वह सोता है', यह मुख्यार्थ हुआ, परन्तु इस वाक्य में स्पष्ट विरोध है, क्योंकि जो चलता है वह सो नहीं सकता। अतः इस अर्थ के प्रसंगानुकूल न होने से इससे गो नामक पशु विशेष का ही अर्थ ग्रहण किया जायगा। इस प्रकार व्युत्पत्ति मूलक अर्थ मुख्य अर्थ नहीं होता और मम्मट का यह उदाहरण रूढ़ा का न होकर निरूढ़ा लक्षणा का ही माना जायगा।

निरूढ़ा लक्षणा—का स्पष्टीकरण जैमिनीय सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने तथा तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट[2] ने किया है। शबर स्वामी के अनुसार लक्षणा लोक व्यवहार पर आधारित रहती है। इस शक्ति द्वारा समाज के आरोपित और स्वीकृत अर्थ का ज्ञान होता है। यह अर्थ कभी-कभी इतना प्रबल हो जाता है कि लोग मुख्यार्थ को भूल जाते हैं ऐसी स्थिति में लक्षणा शक्ति का व्यापार होता है उसे निरूढ़ा लक्षणा कहते हैं। इसका अर्थ मुख्यार्थ न होकर रूढ़ार्थ होता है और इस ही निरूढ़ा कहते हैं।

हेमचन्द्र का वर्गीकरण—आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सभी रूढ़ार्थ मुख्यार्थ होता है। कुमारिल भट्ट ने निरूढ़ा के तीन भेदों को बताया है। १ प्राचीन निरूढ़ा २ नवीन सम्भवा ३ नवीन असम्भवा निरूढ़ा। अन्तिम

---

१ केचित् कर्मणि कुशल इति रूढावुदाहरन्ति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशाग्राहि रूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वे पि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। साहित्य दर्पण-परि०२ पृ० ५१

२ निरूढ़ा लक्षणा काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं कार्श्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥ कुमारिल भट्ट

गो भेदों के उदाहरण म 'गङ्गाया घोष" और "कमणि कुशल" बताया गया है। भट्ट सोमेश्वर ने काव्य प्रकाश की काव्यादश टीका म 'निरूढा इति अल्पापचार प्रतीतय' कहा है।[1] आचाय मम्मट ने भी इसका कुछ सकेत तो कर ही दिया है।[2] हेमचन्द्र न सभी रूढाथ को मुख्याथ माना है।

प्रयोजनवती लक्षणा—जहाँ पर लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किसी विशेष अभिप्राय से किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। आचाय मम्मट ने उदाहरण के लिये 'गङ्गाया घोष' वाक्य का प्रयोग किया है। इस वाक्य म लक्षणा के तीनों ही अगो का प्रयोग किया गया है। गङ्गा की धारा म घोषादि म मुख्याथ बाध है। इससे इसका अथ गङ्गा का तट ग्रहण किया जाता है। इसका सम्बन्ध गङ्गा की धारा से भी बना रहता है। अत 'तद्योग' भी हो जाता है। दूसरे गङ्गा से गङ्गा तट का हो अथ ग्रहण किया जायगा यमुना तट का नहीं। यहाँ समीप समीपि भाव भी है वक्ता का प्रयोजन शत्य पावनत्व को बताना है इस प्रकार प्रयोजन की तीसरी शत भी पूरी हो जाने से इस लक्षणा का उदाहरण मानते। कुछ लोगों ने इसे नवीन सम्भवा निरूढा का उदाहरण माना है।

लक्षणा का शुद्धामूलक भेद—आचाय मम्मट ने शुद्धा लक्षणा के दो भेद माने है प्रथम शुद्धा उपादान लक्षणा और द्वितीय शुद्धा लक्षण लक्षणा।[3] जहा अपने अथ की सिद्धि के लिये किसी दूसरे अथ का आक्षेप करा लिया जाता है अथवा दूसरे अथ की सिद्धि के लिये अपने अथ का त्याग किया जाता है, वहाँ क्रमश उपादान और लक्षण लक्षणा समझना चाहिए। यहाँ मुख्याथ का त्याग केवल इसलिये होता है कि मुख्याथ से सम्बन्धित दूसरे अथ की तक पूण सगति बठाई जा सके। वेदान्त म इसी उपादान लक्षणा का दूसरा नाम अजह् स्वार्था लक्षणा बताया गया है तथा लक्षण लक्षणा को जहत्स्वार्था।

उदाहरण—कु ता प्रविशन्ति, यष्टय प्रविशन्ति' इन दोनों ही वाक्यो म भाले और लाठियाँ दोनों ही अचेतन पदाथ हैं इसस उनम अपनी ही

---

१ राजस्थान प्राच्य विद्या सस्थान स प्रकाशित सन १९५९ सस्करण।

२ निरूढा काचिद्नाया तु कार्या सा काचिद यथा शब्द व्यापार मम्मट।

३ स्वसिद्धये पराक्षेप पराथ स्वसमपणम्।
उपादानं लक्षण चेत्र शुद्धा द्विधा मता ॥ काव्य प्रकाश।२।१०

शक्ति से प्रवेश क्रिया सम्भव नहीं हो सकती है। यहाँ पर प्रवेश क्रिया की सार्थकता सिद्ध करने के लिये 'भालधारी' तथा 'लाठी को धारण करने वाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं, यह अर्थ लिया जायगा। इस प्रकार दोनों उदाहरणों में मुख्यार्थ भी बना हुआ है तथा इनसे सम्बन्धित 'व्यक्ति' का आक्षेप से ग्रहण कर लिया जाता है। इसलिये यहाँ उपादान लक्षणा है।[1]

मुकुलभट्ट का उदाहरण और मम्मट का विचार—मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा को स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरण दिये हैं। प्रथम "गौरनुबन्ध्य" और द्वितीय 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते।" प्रश्न यह है कि ये उदाहरण उपादान लक्षणा में उपयुक्त हो सकते हैं या नहीं। आचार्य मम्मट ने इन दोनों उदाहरणों का खण्डन किया है। पहले मुकुल भट्ट के मत को समझ लेना आवश्यक है।

मुकुल भट्ट का मत—मीमांसक होने के कारण इन्होंने सभी उदाहरण मीमांसा ग्रन्थ से लिया है। 'गौरनुबन्ध्य' गौ को मारना चाहिये', इस विधि वाक्य में इसी लक्षणा का समर्थन किया गया है। मीमांसकों के अनुसार 'गौ शब्द का मुख्यार्थ गोत्व जाति' होता है 'गो शब्द व्यापाराद् गोत्व लक्षणा जातिरेवावगम्यते। स एव मुख्योऽर्थः," किन्तु समस्त गो जाति को मारना सम्भव नहीं है इसलिये इन दोनों की तर्क पूर्ण संगति बठाने के लिये लक्षणा शक्ति का सहारा लेना पड़ता है और इसका अर्थ गो जाति न लेकर गोत्व विशिष्ट गो व्यक्ति से लेंगे। इस प्रकार गो जाति से गो व्यक्ति का बोध करा लेंगे और गो शब्द के मुख्य अर्थ गो जाति अथवा गोत्व से सम्बन्ध गो व्यक्ति का अर्थ ग्रहण होगा तथा वह जाति व्यक्ति का वाचक बन जाता है।

मुकुल भट्ट द्वारा पूर्व पक्षियों का खण्डन—मुकुल भट्ट ने यहीं पर अपने मत की स्थापना करते हुए पूर्व पक्षियों का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि गो शब्द पहले गो जाति का अर्थ देगा और बाद में गो व्यक्ति का अर्थ सिद्ध होगा। इन दोनों ही अर्थों का व्यक्त करने में शब्द की अभिधा शक्ति ही काम करती है। ऐसी स्थिति में यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि मीमांसकों के अनुसार अभिधा एक बार जब विशेषण का प्रकट कर लेती

---

१ 'कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। ततः उपादानेनेयं लक्षणा। का० प्र० २रा उल्लास।

है, तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाने के कारण वह विशेष्य का ग्रहण नहीं कर सकेगी।[1] 'गौरनुबन्ध्य' वाक्य में गो का मुख्य अर्थ गोत्व जाति, उससे लक्षित अर्थ गो व्यक्ति का विशेषण होगा और गो व्यक्ति विशेष्य कहा जायगा, तो जब गो से जाति का बोध हो गया तो पुनः उससे व्यक्ति का बोध नहीं हो सकता है। अतः जाति से व्यक्ति का बोध आक्षेप से ही माना जायगा, तो गो शब्द से उसका बोध नहीं हो सकता है। इस प्रकार कुमारिल भट्ट के अनुसार अभिधा के सहारे गो से गो जाति का अर्थ ज्ञान होगा, विशेष्य रूप गो व्यक्ति का अर्थ बोध नहीं हो सकता है। निष्कर्ष यह निकला कि अभिधा से अर्थ का ज्ञान न होने से उपादान लक्षणा के द्वारा ही अर्थ का ग्रहण हो सकेगा।

आचार्य मम्मट द्वारा इस मत का खण्डन — मम्मट ने 'गौरनुबन्ध्य' वाक्य में उपादान लक्षणा नहीं माना है क्योंकि इसमें लक्षणा के केवल दो तत्वों की ही पूर्ति होती है, तीसरी रूढ़ि या प्रयोजन में से एक वाली शर्त पूरी नहीं हो पाती है, क्योंकि इन दोनों में से यहाँ कोई भी एक नहीं है। ऐसी दशा में गो से गो व्यक्ति का ज्ञान कैसे हो सकता है। मम्मट का मत है कि जाति से व्यक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। इसलिए गो जाति से गो व्यक्ति का अर्थ अविनाभाव के कारण ही सम्भव होता है। गो से आक्षेप द्वारा गो व्यक्ति का बोध नहीं होता, जैसा कि मीमांसक मानते हैं। इस प्रकार अविनाभाव द्वारा जाति से व्यक्ति का जो बोध होता है, वह वाक्य की आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए ही होता है। इसके समर्थन में मम्मट ने कई उदाहरण दिये हैं, यथा 'क्रियताम्' क्रिया की आकांक्षा की पूर्ति के लिए कर्ता 'त्वं' का स्वयमेव बोध हो जाता है जिसका प्रयोग स्पष्टतः नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'कुरु' कर्म की आकांक्षा रूप में कर्म का आक्षेप कर लिया जाता है। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्य' वाक्य में गो शब्द की आकांक्षा के रूप में गोत्व का आक्षेप कर लिया जाता है। आचार्य मम्मट का इस सम्बन्ध में यही विचार है।

बहुत से विद्वान् मम्मट के इस विचार से सहमत नहीं हैं। नागोजी भट्ट ने अनुमान का सहारा लिया है। आचार्य मम्मट के द्वारा प्रयुक्त 'आक्षेप' के लिए कुमारिल और प्रभाकर भट्ट ने 'अध्याहार' का प्रयोग किया है। गो में गो व्यक्ति का जो आक्षेप होता है उसे प्रभाकर ने 'शब्दाध्याहार' कहा है। कुमारिल भट्ट का यह विचार है कि जिस प्रकार 'प्रविश' क्रिया की पूर्ति के लिए 'गृह

---

१ विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।

२ व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु व्यक्तिराक्षिप्यते। का० प्र०

का और 'विण्डिम' शब्द की आकांक्षा पूर्ति के लिये 'भक्षय' शब्द आक्षिप्त कर लिये जाते हैं उसी प्रकार गो शब्द से गो व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। अत कुमारिल के मत मे इसे 'शब्दाध्याहार' कहा है, क्योंकि गो शब्द के स्थान पर गो व्यक्ति शब्द की स्थापना करने से ही इस अर्थ का ग्रहण हो पाता है। आचार्य मम्मट द्वारा जो इस मत का खण्डन किया गया है उसके मूल विचारक के सम्बन्ध मे भी मतभेद है। उद्योत टीका के अनुसार 'गौरनुबन्ध्य' द्वारा कहा गया मत मण्डन मिश्र का है किन्तु माणिक्यचन्द्र ने इसे मुकुल भट्ट का सिद्धान्त माना है। यह मत चाहे जिसका हो, परन्तु मम्मट के मत से उसका मेल नहीं बैठता है।

मुकुल भट्ट का दूसरा उदाहरण और उसका खण्डन—मुकुल भट्ट ने वाक्य लक्षणा का दूसरा उदाहरण दिया है। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' देवदत्त मोटा है परन्तु दिन मे नहीं खाता।' इस वाक्य मे देवदत्त के पीनत्व की सार्थकता सिद्ध करने के लिये 'रात्रि मे खाता है, इस अर्थ का उपादान मे ग्रहण करना पडता है। इसलिये यहाँ उपादान लक्षणा होगी।

आचार्य मम्मट ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि यहा पर लक्षणा न होकर अर्थापत्ति प्रमाण है, जो लक्षणा के अन्तर्गत नहीं आता है। मीमासकों के अनुसार किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक भूत अर्थान्तर की कल्पना करना अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है।[1] यहाँ पर पीनत्व अनुपपद्यमान अर्थ है क्योंकि दिन मे न खाने वाले का पीनत्व सम्भव ही नहीं है यदि वह रात्रि मे भी भोजन न करे। इसलिए इस वाक्य मे रात्रि भोजन उसका उपपादकभूत अर्थ है। इस प्रकार अनुपपद्यमान अर्थ दिन में न खाने वाले का मोटापन देखकर उसके उपपादक रात्रि भोजन की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से ही सम्भव है। यदि कोई व्यक्ति रात या दिन दोनों ही समयों में नहीं खाता है तो उसका पीनत्व सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार पीनत्व रूप अनुपपद्यमान अर्थ की सिद्धि रात्रि भोजन से ही हो सकती है। अत यहाँ लक्षणा न होकर अर्थापत्ति प्रमाण ही है।

लक्षण-लक्षणा—इसके उदाहरण मे "गङ्गायां घोष" वाक्य दिया गया है। लक्षणा के ये दोनों ही भेद शुद्धा के अन्तर्गत हैं क्योंकि इनमे उपचार (सादृश्य) नहीं है। ये अत्यन्त सदृश पदार्थों का सादृश्य के कारण भेद का अज्ञान

---

१ अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः ...

भान होना जहाँ स्थगित हो जाता है, वही पर उपचार माना जाता है।[1] इस सम्बन्ध मे मतभेद भी दीख पडता है। प्रदीपकार ने सादृश्य सम्बन्ध पर इसे आधारित बताया है। मम्मट इसमे ताद्रूप्य सम्बन्ध मानते हैं, गौतम के अनुसार यह शब्द प्रयोग है। इसीलिए सभी प्रकार की लक्षणाओ को उपचार द्वारा ही स्पष्ट किया गया है। कुन्तक उपचार को सादृश्य मूलक सारोपा लक्षणा का कारण मानते हैं। इनके मत से उपचार का प्रयोग अप्रस्तुत प्रशसा अलकार म प्रतीयमान के अर्थ मे होता है। महिमभट्ट ने इसम अनुमिति अर्थ ग्रहण किया है। इसी से रस के प्रसार को उन्होने अनुमान द्वारा ही सिद्ध किया है। मुकुलभट्ट ने इसे लक्षणा का आधार कहा है, जो कार्य कारण भाव पर अथवा सादृश्य पर आधारित है।

कार्य कारण भाव पर आधारित लक्षणा को शुद्धोपचार और दूसरी को गौणोपचार कहते हैं। मम्मट ने इसका स्पष्टीकरण नही किया है। इसी से टीकाकारो म इस भेद के सम्बन्ध म मतभेद है। परन्तु अधिकाश लोग इसे सादृश्यमूलक ही मानते है। कुछ लोगो ने तादर्थ्य के चार सम्बन्धो म से उपचार को एक पर आधारित माना है।

मुकुलभट्ट का मत—मुकुल के मत से उपचार का मिश्रण गौणी और शुद्धा दोनो म होता है। इसी म उन्होने पहले शुद्धोपचार और गौणोपचार दो भेद किये है फिर दोनो के सारोपा और साध्यवसाना नामक भेद किये गये हैं। इस प्रकार उपचार मिश्रा के चार भेद और शुद्धा के दो भेद किये गये हैं। अन्य के लिए अन्य शब्द के प्रयोग को ही इन्होने उपचार माना है। जहाँ सादृश्य के आधार पर अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है वहाँ गौणोपचार और जहा यह प्रयोग कार्य कारण भाव पर आधारित होता है वहा शुद्धोपचार होता है। इस प्रकार उपचार के भी दो भेद होने पर मम्मट ने इन दोनो को अलग अलग माना है, परन्तु मुकुलभट्ट इस भेद को उचित नही मानते हैं। अत मुकुलभट्ट ने अपने तादर्थ्य सिद्धान्त की पुष्टि की है।

मुकुलभट्ट का तादर्थ्य सिद्धान्त—तादर्थ्य सिद्धान्त अर्थात लक्ष्य अर्थ और लक्षक अर्थ के भेद को ही शुद्धा और गौणी का भेदक धर्म माना गया है। गौणी का लक्षणा म सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य और लक्षक का अभेद प्रतीत होता है। यथा गौर्वाहीक ' "पंजाबी बैल है वाक्य म जडता मन्दता आदि

---

१ अत्यन्त विशकलितयो सादृश्यातिशयमहिम्नाभेदप्रतीतिरुपगन उपचार ॥

गुणों का पजाबी और बल मे सादृश्य होने के कारण गौ और वाहीक अथ मे अभेद की प्रतीति होती है। इसके विपरीत शुद्धा लक्षणा (उपादान और लक्षण) में लक्ष्य और लक्षक अथ का अभेद नहीं होता, अपितु भेद रूप ताटस्थ्य बना रहता है। यही इसका ताटस्थ्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार 'कुन्ता प्रविशन्ति' और 'गगायां घोष' इन दोनो उदाहरणों मे लक्ष्य और लक्षक अथ का अभेद नही है अपितु भेद रूप ताटस्थ्य बना रहता है। अत सादृश्य मे ही शुद्धा लक्षणा होती है अर्थात शुद्धा लक्षणा म लक्ष्य और लक्षक अर्थों म भेद बना रहता है और गौणी लक्षणा म दोनो अर्थों म अभेद रहता है।

मम्मट द्वारा ताटस्थ्य सिद्धान्त का खण्डन—आचाय मम्मट न मुकुल-भट्ट के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। इसके अनुसार शुद्धा लक्षणा के दो भेदो उपादान और लक्षण म लक्ष्याथ (तीर रूप) और लक्ष्याथ (गङ्गा का जल प्रवाहरूप) मे भेद प्रतीति नहीं होन स इनम ताटस्थ्य सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है क्योंकि 'गङ्गायां घोष' वाक्य म गङ्गा का अथ तट होता है। ऐसी दशा म इसक प्रयोग का प्रयोजन शीतलता और पावनता को प्रकट करना ही होता है। इस प्रयोजन की सिद्धि तभी होती है, जब हम गङ्गा को तट समझ लें और ऐसा होन मे आरोप का भाव आ जाता है। अत मुकुलभट्ट के सिद्धान्त का निराकरण हो जाता है। यदि पूर्व पक्षी यह कहे कि गगा स तट का भाव उनम गगा और तट मे भी एक सम्बन्ध दिखाई पडता है, तो कहा जा सकता है कि यह अथ अभिधा म भी सिद्ध हो सकता है तो फिर लक्षणा का प्रयोग ही व्यथ है।[1]

सारोपा लक्षणा—जहाँ विषयी के द्वारा विषय आरोपित किया जाता है उसके लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है।

(१) लक्ष्याथ और मुख्याथ (विषय और विषयी) दोनो का समानाधिकरण करते हुए एक साथ उनका निर्देश होना चाहिए।

(२) रूपक अलंकार का मूल यही गौणी सारोपा लक्षणा होती है।

---

१ अनयो लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूप ताटस्थ्यम्। तटादीनां हि गगादिशब्द प्रतिपादने तत्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषित प्रयोजन सम्प्रत्यय। गगा सम्बन्ध मात्र प्रतीतौ तु गगातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेद। काव्यप्रकाश। द्वि० उ० पृष्ट ६१

(३) इसमें विषयी के द्वारा विषय आरोपित होता है।

(४) दोनों एक ही कारक या विभक्ति में लिखे जाते हैं। जैसे गौर्वाहीक (पंजाबी बैल है)

इस उदाहरण में सभी बातें मिल जाती हैं। गौ और वाहीक का स्पष्ट निर्देश भी किया गया है। दोनों एक ही विभक्ति में होने के कारण समाना धिकरण की विशेषता से भी युक्त है। समानाधिकरण से गौ को वाहीक का अर्थ भी प्रकट करना चाहिये यह कार्य अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है। अतः लक्षणा से काम लेना पड़ता है। यहाँ अतिशय मूर्खता को व्यक्त करना ही ध्येय है। इस स्थान पर वाच्यार्थ (बैल) और लक्ष्यार्थ (पंजाबी) में समान गुण मूर्खता है। अतः समान गुणों के सादृश्य के कारण बैल का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है।

साध्यवसाना लक्षणा—जब विषयी (आरोप्यमाण या उपमान) के द्वारा दूसरे का (उपमेय रूप आरोप विषय) अपने भीतर अन्तर्भाव कर लिया जाता है तो वहाँ साध्यवसानिका लक्षणा होगी। जैसे 'गौरयम्' या 'गौर्जल्पति' में आरोप विषय वाहीक का शब्द उपादान नहीं है फिर भी इसमें एक सादृश्य है। अतः साद्रश्यमूलक होने के कारण ये दोनों गौणी लक्षणा के उदाहरण हैं। यहाँ पर गौ शब्द वाहीक की प्रतीति कैसे कराता है, इस सम्बन्ध में कई मत हैं अर्थात् गौणी साध्यवसाना लक्षणा में लक्षणा वृत्ति से लक्ष्य अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध में तीन मत हैं—

(१) यहाँ गौ शब्द के अपने अर्थ के सहचारी जाड्य मान्द्य आदि गुण लक्षणा द्वारा बोधित होकर गौ शब्द के द्वारा दूसरे अर्थ (वाहीक रूप को) अभिधा से बोधित करने में प्रवृत्ति निमित्त बन जाते हैं, 'अत्र हि स्वार्थ सहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गो शब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्ति निमित्तमुपयान्ति इति केचित्।'[1] इस लक्ष्यार्थ को बोधित करने में दो सरणियाँ काम करती हैं। (क) गौ शब्द लक्षणा के सहारे पहले जाड्य मान्द्यादि गुणों का संकेत करता है (ख) पुनः अभिधा के द्वारा वाहीक अर्थ देता है। इससे स्पष्ट है कि गौ शब्द का मुख्यार्थ बैल है वाहीक नहीं है। इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिये हमें लक्षणा शक्ति लानी पड़ेगी। लक्षणा के सहारे जाड्यमान्द्यादि—जो कि मुख्य अर्थ से सम्बद्ध है, प्रयोजन मूलक है

१ काव्य प्रकाश द० पृ० ६२ आ० विश्वेश्वर

और मुख्यार्थ नहीं है—का बोध होता है इसलिये गौ का दूसरा अर्थ वाहीक अभिधा के सहारे समझना चाहिए अर्थात् 'गौर्वाहीकः' में (१) पहले अभिधा से गौ का बैल अर्थ होता है (२) फिर वाच्यार्थ से सम्बद्ध उसके सहचारी गुण जड़ता मन्दता आदि का बोध लक्षणा से होता है क्योंकि बैल में ये गुण वर्तमान रहते हैं, इस प्रकार ये गुण स्वार्थ सहचारी हैं। (३) ये गुण (जड़तादि) वाहीक में भी पाये जाते हैं। अतः वाहीक को व्यक्त करने में पुनः अभिधा शक्ति काम करती है। इस प्रकार अभिधा, लक्षणा और अभिधा के क्रम से शब्द की शक्तियाँ गौ शब्द से वाहीक अर्थ की सिद्धि करती हैं।

उपर्युक्त मत का खण्डन—इस मत में स्पष्टतः तीन दोष दीख पड़ते हैं—(क) गौ शब्द का सकेत वाहीक में नहीं हो सकता, क्योंकि इसका क्रम अभिधा, लक्षणा, अभिधा बताया गया है इसमें दूसरी बार अभिधा व्यापार का होना सम्भव नहीं है। इससे यह मत मान्य नहीं कहा जायगा।

(ख) जब एक बार लक्षणा द्वारा गो गत जाड्य मान्द्यादि का बोध हो गया, तो पुनः अभिधा से वाहीक अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है, क्योंकि किसी भी शब्द का व्यापार एक ही बार होता है।

(ग) यहाँ लक्ष्यार्थ को प्रवृत्ति रूप माना गया है परन्तु सिद्धान्त के अनुसार वाच्यार्थ ही प्रवृत्ति रूप हो सकता है, लक्ष्यार्थ नहीं। अतः यह मत दोषपूर्ण माना जायगा।

२ दूसरा मत—इस मत के अनुसार गुण से गुणी के बोध कराने का प्रयास है। गौ का लक्ष्यार्थ गोत्वगुण है और अपने गुणी वाहीक का संकेत कर रहा है। गौ तथा वाहीक दोनों में ही एक ही प्रकार के गुण जड़ता मन्दता आदि पाये जाते हैं। गुण की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। अतः गौ शब्द का मुख्य अर्थ बैल है और उसमें पाये जाने वाले जड़तादि गुणों के अभेद के कारण लक्षणा शक्ति से वाहीक गत जड़ता मूर्खता गुण भी लक्षित होते हैं। वाहीक अर्थ के अभिधा से बोध कराने में प्रवृत्ति निमित्त नहीं होते हैं।

निराकरण—(क) गौ और वाहीक में पाये जाने वाले गुणों में अभेद है। जड़तादि गुण एक ही है, परन्तु उनका गुणी गौ और वाहीक अलग अलग है। अतः गौ के मुख्यार्थवाची शब्द से वाहीक में पाये जाने वाले गुणों का लक्षणा से बोध हो यह विचार अनुचित है क्योंकि धर्मी (गौ और वाहीक) इन दोनों की अलग अलग सत्ता है।

(ख) यदि लक्ष्यार्थ के जाड्य मान्द्यादि गुणों का बोध मान भी लिया

जाय, तो गुणी और गुण का सहप्रयोग कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसे मानने पर 'जाड्य मान्द्यादि गुण पञ्जाब के रहने वाले हैं' यह अनुचित अर्थ होगा। अतः गो और वाहीक का सहप्रयोग अनुचित होने से लक्षणा का प्रयोग किया गया है। इस लक्षणा मुख्य अर्थ को ग्रहण करने पर भी सहप्रयोग सम्भव न हो तो लक्षणा को मानना भी अनावश्यक होगा। ऐसी स्थिति में आक्षेप से काम लेना पड़ेगा। इसमें गौरव-दोष आ जाता है। अतः यह मत भी मान्य नहीं हो सकता है।[1]

३ तीसरा मत—गो में तथा वाहीक में पाये जाने वाले गुणों में साम्य है। इन समान गुणों के आश्रय से गो का अर्थ लक्षणा से वाहीक ही लेना चाहिए। तन्त्र वार्तिक में इसका समर्थन किया गया है कि मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणों से बाधित होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्ध अन्य अर्थ लक्षणा से प्रतीत होता है तथा लक्ष्यमाण गुणों के योग से लक्षणा वृत्ति की गौणता हो जायगी। लक्षणा की क्रिया जब मुख्यार्थ और गौणार्थ में सम्बन्ध पर होती है, तो उसे गौणार्थ कहते हैं। यहाँ गो से वाहीक अर्थ लेने में मुख्य में बाध है ही साद्दश्य सम्बन्ध के कारण तद्योग भी है। समान मूर्खता का बताना यहाँ प्रयोजन है। इस प्रकार समान जड़ता और मूर्खता के कारण गो के मुख्यार्थ बैल और वाहीक में सादृश्य सम्बन्ध स्थापित होने पर गो शब्द ही लक्षणा व्यापार से वाहीक को लक्षित कर देता है। अतः यह मत अधिक समीचीन है। गौणी लक्षणा भी वहीं होती है जहाँ लक्षित गुणों के सम्बन्ध के द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो। मम्मट ने इसी मत का समर्थन करते हुए तन्त्र वार्तिक के एक श्लोक को उद्धृत किया है। इस प्रकार गौणी लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा का वर्णन किया गया। निम्नलिखित पंक्तियों में शुद्धा के दोनों भेद सारोपा और साध्यवसाना का विचार किया जायगा।

शुद्धा लक्षणा—जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से आरोप और अध्यवसान होता है वहाँ शुद्धा लक्षणा का भेद माना जाता है। 'आयुघृतम् (घी आयु है) वाक्य में सादृश्य से भिन्न कारण कार्य भाव लक्षणा के प्रयोजक हैं। इस वाक्य में आरोप्यमाण आयु और आरोप विषय घृत है। दोनों का शब्दतः कथन भी हुआ है। इससे यह शुद्ध सारोपा नामक भेद है क्योंकि सारोपा में विषयी तथा विषय का स्पष्ट कथन होता है और शुद्धा में

---

१ स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुण एव लक्ष्यन्ते न परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। काव्य प्रकाश पृ० ६३ आ० विश्वेश्वर

सादृश्य भिन्न सम्बन्ध पर लक्षणा आधारित रहती है इस उदाहरण मे घृत और आयु मे कारण कार्यभाव सम्बन्ध है। घृत को आयु वर्द्धक माना गया है अर्थात् आयु के बढ़ाने का यह एक कारण है।

शुद्धा साध्यवसाना मे आरोप विषय का शब्दत कथन नही होता है। वह विषयी मे ही अन्तर्हित रहता है। उदाहरणार्थ घृत के लिये प्रयुक्त वाक्य 'आयु पिवामि' (जीवन ही पीता हूं) मे जीवन के कारण भूत घृत का शब्दत कथन नही हुआ है, वह आयु रूप विषयी मे ही छिपा रह जाता है। अत आरोप विषय घृत का शब्दत कथन न होने से यह शुद्धा साध्यवसाना का भेद होगा।

उपयुक्त विचारो से स्पष्ट हो जाता है कि गौणी लक्षणा के दोनो भेदो में आरोप्यमाण (गौ) और आरोप विषय (वाहीक) मे वस्तुत भेद होने पर भी उन दोनों के तादात्म्य की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। इसी अभेद की प्रतीति कराना इस लक्षणा का प्रयोजन माना जाता है। इसके सारोपा भेद मे रूपक अलकार और साध्यवसाना भेद म रूपकातिशयोक्ति अलकार कार्य करता है।

शुद्धा लक्षणा के प्रयोजक हेतु—गौणी लक्षणा सादृश्य सम्बन्ध पर और शुद्धा सादृश्येतर सम्बन्ध पर आधारित रहता है। इसे कई प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

(१) कार्य कारण भाव—का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। शुद्धा सारोपा का 'आयुर्घृतम्' और शुद्धा साध्यवसाना का 'आयु पिवामि' उदाहरण है।

(२) तादर्थ्य सम्बन्ध से भी शुद्धा लक्षणा को स्पष्ट किया गया है। तादर्थ्य में अन्य के लिए अन्य का वाचक शब्द प्रयोग किया जाता है। जसे इन्द्र के लिये बनाई गई स्थूणा भी तादर्थ्य सम्बन्ध से इन्द्र कही जाती है।

(३) स्व स्वामिभाव से अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग होता है। जस राजा का विशेष कृपा पात्र व्यक्ति भी 'राजा' नाम से सम्बोधित होता है।

(४) अवयव अवयवि भाव सम्बन्ध से भी लक्षणा का निर्णय किया जाता है। जसे हाथ के अग्रभाग के लिए भी 'हस्त' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

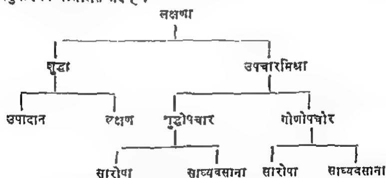
(५) तात्कर्म्य से भी उपचार का प्रयोग होता है अर्थात् अन्य के लिये अन्य का प्रयोग किया जाता है। जस बढई का काम करने वाले ब्राह्मण को भी बढई कह जाता है। एसा तात्कर्म्य (उस कार्य को करने के सम्बन्ध से ही) किया

जाता है। गौणी और शुद्धाविषयक विभिन्न मत–बताया जा चुका है कि सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा की दो कोटियाँ होती हैं—

(क) साहश्य सम्बन्ध को लेकर चलने वाली लक्षणा को गौणी नाम दिया गया है। इसमें विषय और विषयी के समान गुणों का आधार बनाया जाता है। यह मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों में ही रहता है। गुणों के इस आधार के कारण इसका नाम गौणी रखा गया है।

(ख) साहश्य से भिन्न अन्य सम्बन्धों पर आधारित लक्षणा शुद्धा कही जाती है। यह सम्बन्ध कार्य कारण भाव तादर्थ्य भाव सम्बन्ध, स्व स्वामिभाव सम्बन्ध, अवयवावयविभाव, तथा तात्कर्म्यभाव सम्बन्ध से कई प्रकार का हो जाता है। इनमें गुणों का मिश्रण नहीं है। इससे इसे शुद्धा कहते हैं।

प्रभाकर के अनुयायी मीमांसकों के अनुसार गौणी और लक्षणा दोनों अलग अलग शक्तियाँ हैं। विद्यानाथ ने दोनों की भिन्नता वाली यह बात स्वीकार नहीं की है। अपि तु मम्मट के समान ही अपना विचार व्यक्त किया है। मम्मट ने लक्षणा के छः भेद किये हैं परन्तु इन भेदों के सम्बन्ध में मत भेद है। विचारकों में माणिक्य चन्द्र जयन्त हरदत्त शर्मा का प्रथम वर्ग है। इनके अनुसार निम्नलिखित भेद है।



इस वर्गीकरण का समर्थन माणिक्य चन्द्र ने संकेत टीका में किया है।[1] जयन्त ने भी शुद्धा लक्षणा को दो प्रकार का माना है और उपचार मिश्रा के चार भेद करने को कहा है।[2] चन्दोरकर ने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क दिये हैं –

---

१ सा च द्विधा। शुद्धोपचार मिश्रा च। शुद्धा द्विधा द्विधोपचार मिश्रा इति उपचार मिश्रा द्विधा। संकेत टीका माणिक्यचन्द्र।

२ शुद्धा लक्षणा द्विप्रकार मुक्ता। इदानी उपचार मिश्रा चतुर्भेदत्वेन निरुपयितुमाह जयन्त।

(१) आचार्य मम्मट ने[1] स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि उपादान और लक्षण ये दोनों शुद्धा लक्षणा के ही भेद हैं क्योंकि इनमें उपचार का मिश्रण नहीं है।

(२) उपचार मिश्रा लक्षणा का संकेत काव्य प्रकाश के द्वितीय उल्लास में ११वीं कारिका में कर दिया गया है "सारोपा ... साध्यवसानिका।"

(३) इस कारिका में 'तु' का प्रयोग व्यक्त करता है कि उपचार मिश्रा ही सारोपा लक्षणा होती है वह शुद्धा नहीं हो सकती है।

(४) मुकुलभट्ट[2] का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का है। मम्मट ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है। आचार्य विश्वेश्वर ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि 'शब्द विचार व्यापार' नामक ग्रन्थ में मम्मट मुकुलभट्ट के मत से जिन अंशों से सहमत नहीं थे, उनका उन्होंने खण्डन किया था, शेष जिन अंशों में उनका मतभेद नहीं है उनका विवेचन मुकुल भट्ट के आधार पर कर दिया गया है। इसलिये लक्षण के इस विवेचन में भी काव्य प्रकाश पर मुकुल भट्ट की छाया पड़ी है।[3] अतः स्पष्ट है कि मुकुल भट्ट ने भी लक्षणा के ये ही छः भेद किये हैं।

(५) प्राचीन टीकाकारों ने माणिक्य चन्द्र और जयन्त ने भी इसी का समर्थन किया है। इसी से छः भेदों वाले इस वर्गीकरण को ठीक माना गया है।

(ख) इस मत को न मानने वालों का वर्गीकरण दूसरे प्रकार का है। वेलाङ्कर महोदय का मत है कि काव्य प्रकाश की कारिका और वृत्ति के शब्दों का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि मम्मट ने कहीं पर भी उपचार मिश्रा लक्षणा का संकेत नहीं किया है अपितु स्पष्ट रूप से गौणी और शुद्धा लक्षणा का अलग

---

१ उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्।
 का० प्र० दूसरा उल्लास।

२ द्विविध उपचारः। शुद्धो गौणश्च तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।
 अत्र हि गोगत जाड्यमान्द्यादिगुण सदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्द गोत्वयोरुपचारः। केचित्तु उपचारे शाब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्। तदयुक्तम्। शाब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्। एवमुपचारः शुद्ध गौणभेदे द्विविधोऽभिहितः॥
 मुकुल भट्ट।

३ काव्य प्रकाश दीपिका—हिन्दी टीका पृष्ठ ६३

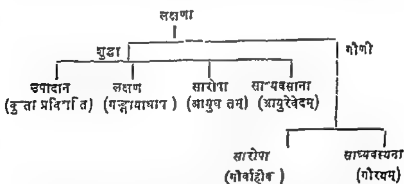
अलग उल्लेख किया है।[1] ऐसी दशा मे इसका अर्थ गौणोपचार और शुद्धोपचार लेना उचित नही कहा जा सकता है।

(1) मम्मट की वृत्ति म 'उभयरूपा चेय शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्' वाक्य मे उपचार के चार अर्थ भेदो का सकेत कही पर भी नही मिलता है। उपचार शब्द से सादृश्य की प्रतीति भी यहाँ पर नही हो पाती है। "आयुरे वाघतम्" म आयु और घन म सादृश्य सम्बन्ध का आभास तक नही है।

(ii) 'सारोपा या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा,' कारिका में 'अन्या' का अर्थ शुद्धा बताया गया है, परन्तु इसका वास्तविक अर्थ उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा का होना चाहिये। वृत्ति मे भी उपचार लक्षणा का सकेत नही है। अत अन्या शब्द से उस अर्थ का ग्रहण करना समीचीन नही हो सकता है।

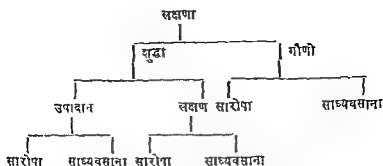
(iii) 'तु' का प्रयोग पद की पूर्ति के लिय माना जा सकता है।

(iv) सिद्धान्त सम्बन्धी अन्तर होने से मम्मट के विचारो को मुकुल भट्ट का अनुकरण मानना ही अनुचित है। अत ऊपर जो वर्गीकरण दिया गया है, उसे अनुचित कहते हुए वेलाङ्कर महोदय ने उसे निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया है —

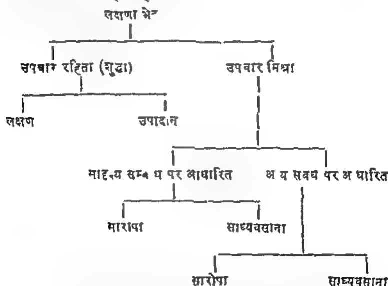


डा० सत्यव्रतसिंह का विभाजन इससे कुछ भिन्न है। इस मत में शुद्धा के उपादान और लक्षण लक्षणा ये दो भेद हैं। पुन प्रत्येक के सारोपा और साध्यवसाना दो-दो भेद हैं। इस प्रकार शुद्धा के चार और गौणी के दो भेद मिलकर कुल छ भेद हो जाते हैं।

१ भेदाविमौ च सादृश्यात सम्बन्धान्तरतस्तथा। गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ २ १२ का० प्र०



इस प्रकार लक्षणा के छ भेद हो जाते है। ये सभी भेद प्रयोजनवती लक्षणा के है रूढा के नही। मेरे विचार से मम्मट के लक्षणा का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से होता है —



इस वर्गीकरण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं —

१ शुद्धा लक्षणा के दो भेद करने के उपरान्त उस प्रसग के अन्त में मम्मट ने कहा है कि ये दोनों भेद (उपादान और लक्षण) शुद्धा के ही है[1] क्योंकि इनमे उपचार (सादृश्यातिशय के कारण भेद प्रतीति का स्थगन हो जाना) का मिश्रण नही है। इस वृत्ति भाग द्वारा दो बाते ज्ञात होती हैं —

क) लक्षणा के भेद के लिये उपचार का मिश्रण या अमिश्रण का होना

---

१ काव्य प्रकाश २।११

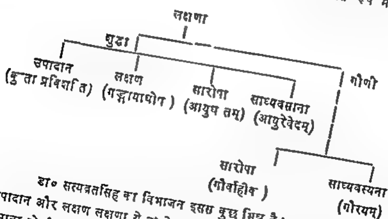
अलग उल्लेख किया है।[1] ऐसी दशा में इसका अर्थ गौणोपचार और शुद्धोपचार लेना उचित नहीं कहा जा सकता है।

(i) मम्मट की वृत्ति में 'उभयरूपा चेय शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्' में उपचार के चार अन्य भेदों का संकेत यहीं पर भी नहीं मिलता है। उपचार शब्द से सादृश्य की प्रतीति भी यहाँ पर नहीं हो पाती है। 'आयुरेवाघृतम्' में आयु और घृत में सादृश्य सम्बन्ध का आभास तक नहीं है।

(ii) सारोपा या तु यत्रोक्तो विषयो विषयस्तथा कारिका में अन्या का अर्थ शुद्धा बताया गया है, परन्तु इसका वास्तविक अर्थ उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा का होना चाहिए। वृत्ति में भी उपचार लक्षणा का संकेत नहीं है। अतः अन्या शब्द से उस अर्थ का ग्रहण करना समीचीन नहीं हो सकता है।

(iii) 'तु' का प्रयोग पद की पूर्ति के लिये माना जा सकता है।

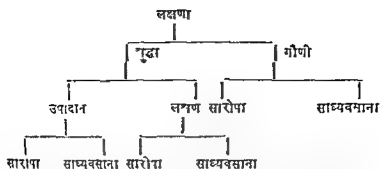
(iv) सिद्धान्त सम्बन्धी अन्तर होने से मम्मट के विचारों को मुकुल भट्ट का अनुकरण मानना ही अनुचित है। अतः ऊपर जो वर्गीकरण दिया गया है उसे अनुचित कहते हुए बेलाङ्कर महोदय ने उसे निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है —



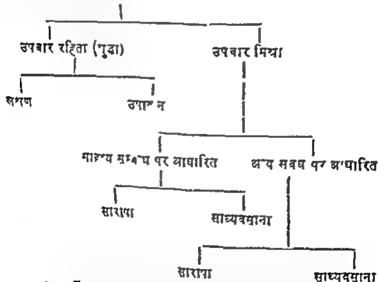
डा० सत्यव्रतसिंह का विभाजन इससे कुछ भिन्न है। इस मत से शुद्धा के उपादान और लक्षण लक्षणा ये दो भेद हैं। पुनः प्रत्येक के सारोपा और साध्यवसाना दो दो भेद हैं। इस प्रकार शुद्धा के चार और गौणी के दो भेद मिलकर कुल छः भेद हो जाते हैं।

---

१ भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा। गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ २।१२ वा० प्र०



इस प्रकार लक्षणा के छ: भेद हो जाते हैं। ये सभी भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं रूढ़ा के नहीं। मेरे विचार से मम्मट के लक्षणा का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से होता है —



इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं —

१. शुद्धा लक्षणा के दो भेद करने के उपरान्त उस प्रसंग के अन्त में मम्मट ने कहा है कि ये दोनों भेद (उपादान और लक्षण) शुद्धा के ही हैं[1] क्योंकि इनमें उपचार (सादृश्यातिशय के कारण भेद प्रतीति का स्थगन हो जाना) का मिश्रण नहीं है। इस कथन भाग द्वारा दो बातें ज्ञात होती हैं —

क) लक्षणा के भेद के लिये उपचार का मिश्रण या अमिश्रण का होना

१. काव्य प्रकाश २।११

आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो 'उपचारेणामिश्रितत्वात्' का महत्व नहीं रहेगा।

(ख) इस व्याख्यान से यह भी स्पष्ट है कि उपचार होने पर लक्षणा का दूसरा भेद होगा।

२ 'सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयीविषयस्तथा'' कारिका में तु शब्द का प्रयोग सभी टीकाकारों के अनुसार शुद्धालक्षणा के लिये ही माना गया है। 'तु' शब्द निश्चयात्मक है। इसके प्रयोग से संदेह का स्थान नहीं रह जाता है। इसी के दो भेद सारोपा और साध्यवसाना हैं।

३ इस प्रसंग पर मम्मट ने कहा है कि सादृश्य सम्बन्ध पर और सादृश्येतर सम्बन्ध पर क्रमशः लक्षणा के गौणी और शुद्धा भेद समझना चाहिए। यहाँ यथाक्रम अलंकार द्वारा यह व्यक्त होता है कि सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा के दोनों भेद गौणी और अन्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा के दोनों भेद शुद्धा कहे जाते हैं।

४ इसी कारिका में 'गौणौ' तथा 'शुद्धौ' का प्रयोग हुआ है।[1] ये दोनों द्विवचन में प्रयुक्त हुए हैं और इसके पूर्व सारोपा और साध्यवसाना भेद किया जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि गौणी और शुद्धा दोनों के ही ये दोनों भेद हैं। इस प्रकार दो भेद पहले के और चार इन भेदों को मिलाकर कुल लक्षणा के छः भेद हो जाते हैं।

५ मम्मट ने लक्षणा के ६ भेदों का स्पष्ट निर्देश किया है। अतः लक्षणा का यह भेद अधिक समीचीन है।

६ लक्षणा के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे भी उपचार मिश्रा और उपचार रहिता वाली भावना पुष्ट होती है क्योंकि वहाँ पर भी कहीं सादृश्य सम्बन्ध की और कहीं अन्य सम्बन्ध की चर्चा की गई है।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि लक्षणा के छः भेद होते हैं। इनमें शुद्धा के दो भेद लक्षण और उपादान तथा उपचार मिश्रा के चार भेद होते हैं। यह भेद अधिक तर्क सम्मत भी हैं। ये सभी भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं। इस प्रयोजन का बोध शब्द की जिस शक्ति द्वारा होता है, उसे व्यञ्जना व्यापार कहते हैं। इसका बोध अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या अथवा विशिष्ट लक्षणा में से किसी के द्वारा नहीं हो सकता है। इस विचार का निराकरण आचार्य मम्मट ने द्वितीय उल्लास की कारिका १४ से १८ तक में किया है और प्रयोजन बोध में व्यञ्जना व्यापार की स्थापना की गई है।

---

१ भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥ ३।१२

व्यजना विचार

व्यञ्जना का स्वरूप

व्यञ्जना का सर्वप्रथम उल्लेख अपनी सम्पूर्ण प्रधानता के साथ ध्वन्यालोककार ने किया है। उन्होंने इसे समझाने के लिये उत्तम काव्य में एक प्रतीयमान अर्थ का होना आवश्यक माना है। 'प्रतीयमान अर्थ कुछ अन्य ही होता है जो महाकवियों की वाणी में पाया जाता है। किसी तरुणी का सौंदर्य जैसे उसके अवयवों से भिन्न एक अलग सत्ता वाला ही होता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी स्वतन्त्र सत्ता वाला होता है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि परम्परा से इस प्रतीयमान अर्थ पर विचार होता रहा है, क्योंकि बिना मौखिक अथवा सत्तात्मक लिखित आधार के ध्वन्यालोककार को भी इसकी प्रेरणा का न मिलना ही सम्भव माना जा सका। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका मे ही आनन्दवर्धन ने बतलाया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा विद्वानों के द्वारा कहा गया है।'[2] इस कारिका में 'बुधैरिति कथित' इस वाक्यांश का प्रयोग है। प्रश्न है कि ये कौन थे? तथा इस वाक्यांश से किनकी ओर संकेत है।

इसी कारिका की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वैयाकरणों ने इस ध्वन्यात्मकता की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया है तथा व्याकरण सब विद्याओं का मूल है। अतः इस ध्वनि मार्ग का प्रचार यों ही नहीं किया जा रहा है, अपितु परम्परा से इसको प्रकट किया गया है। वैयाकरणों का यही सिद्धान्त 'स्फोटवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। मम्मट ने भी प्रथम उल्लास में कहा है कि बुध अर्थात वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति

---

१ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत १/४

२ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः १/१ — ध्वन्यालोक

कराने मे समर्थ शब्द के लिये ध्वनि का व्यवहार किया है। तदनन्तर उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्य साहित्य शास्त्र के आचार्यों ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले तथा व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने मे समर्थ शब्द और अर्थ दोनो के लिये ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।[1] महाभाष्यकार ने भी इस ध्वनि पद का प्रयोग किया है" अथवा प्रतीतपदार्थ को लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्द मा कुरु, शब्द या कार्षी, शब्दकार्यय माणवक इति। ध्वनि कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनि शब्द"[2]

अत स्पष्ट है कि स्फोट सिद्धान्त से ही इसको मूल प्रेरणा प्राप्त हुई है। 'स्फुटति अर्थ यस्मात स स्फोट" जिससे अर्थ का स्फुरण प्रतीति हो, वह स्फोट कहा जाता है। व्याकरण मे नित्य व अखण्ड शब्द के रूप म स्फोट की कल्पना की गई है। वर्ण, पद, वाक्य आदि स्फोट रूप इसी व्यंग्य के व्यञ्जक हैं। वैयाकरणों ने शब्द के वर्णनात्मक और ध्वन्यात्मक य दो भेद किये है। इन पूर्व पूर्व ध्वनि के उच्चारण के साथ वर्णनात्मक ध्वनि तो नष्ट हो जाती है, परन्तु ध्वन्यात्मक शब्द ही अखण्ड रूप मे पद वाक्यादि का ज्ञान कराता है। इसी ध्वनि से व्यञ्जित होने वाला अखण्ड तत्व 'स्फोट' कहा जाता है। साहित्यकारों का भी प्रतीयमान अर्थ पद पद्यांश अर्थ आदि से अभिव्यञ्जित होता है। अत व्यञ्जना की कल्पना का मूल इन्हीं वैयाकरणो म ही पाया जाता है। जसे अखण्ड और नित्य रूप स्फोट पहले से ही वर्तमान रहता है और वर्ण, पद वाक्य आदि दीपक द्वारा घट की अभिव्यक्ति के समान उसे व्यञ्जित कर देते हैं। उसी प्रकार सहृदय के हृदय म वर्तमान व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द या अर्थ अभिव्यञ्जित कर देता है।

ऊपर मम्मट की पक्ति को उद्धृत करते हुए कहा गया था कि 'त मतानुसारिभिरन्यैरपि" अर्थात उन वैयाकरणो के मत का अनुसरण करने वाले अन्यो के द्वारा भी इस ध्वनि की चर्चा की गई है। इन अन्यो म विशेषत भामह और उद्भट का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों ने ध्वनि मार्ग का सकेत अवश्य किया है परन्तु उसका लक्षण नही किया। इनके मत से गुण वृत्ति' ही ध्वनि है। ध्वनिकार ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि

१ बुधैर्वैयाकरणै प्रधानभूतस्फोटरूप व्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृत । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावित वाच्यव्यंग्यव्यञ्जन क्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

२ महाभाष्य' पतञ्जलि। का० प्र०पृ० २६

"अन्ये त ध्वनिसंज्ञित काव्यात्मान गुणवृत्तिरित्याहु"[1] अर्थात दूसरे लोग काव्यात्मा उस ध्वनि को गुणवत्ति कहते हैं।

इसी ध्वनि की चर्चा करते हुए भामह ने इसे अभिधानपद स स्पष्ट किया है।[2] उद्भट के अनुसार यही 'गुणवत्ति' है।[3] तथा वामन ने सादृश्यात लक्षणा वक्रोक्ति' वाक्य म लक्षणा द्वारा ध्वनि माग का स्पश किया है। इस प्रकार भामह के काव्यालंकार म और उद्भट के विवरण म गुणवत्ति' प्रयोग को देखकर ध्वनिकार ने 'भाक्तमाहुस्तमन्य लिखा है। इस भक्ति का स्पष्टीकरण तीन रूपों म किया गया है। (१) मुख्यार्थबाधरूप मे मुख्यार्थस्य भंग भ क्त'' (२) सामिप्यादि सम्ब ध रूप म—भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामिप्यादि धर्मो भक्ति। (३) प्रयोजन रूप म—प्रतिपाद्यते शत्य पावनत्वाद्व श्रद्धाविशयो भक्ति —तत आगत भाक्त। अत स्पष्ट हुआ कि मुख्याथ बाधादि तीनों मूल तत्वों से जिस अथ की प्रतीति होती है। उस लक्ष्याथ को ही भाक्त कहते है। इस प्रकार इस ध्वनि का प्रयोग परम्परा सम्मत है और इस प्रवाद मात्रत्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह ध्वनि केवल लक्षणकताओ को ही ज्ञात नहीं है लक्ष्य ग थो म तो सवत्र यही सहृदय—आह्लादक काव्य तत्व प्राप्त हो सकेगा।[6] अत ध्वनि की स्थिति परम्परा सम्मत है।

इस प्रकार मुख्याथ और लक्ष्याथ स भिन्न एक व्यङ्ग्याथ की सत्ता माननी पड़ती है। इस व्यङ्ग्याथ की प्रधानता स ही ध्वनि हो सकती है। स्मरण रहे कि यह व्यंग्याथ वाच्याथ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त होता है और इसी को विद्वानो ने ध्वनि कहा है।[4] वयाकरणो के अनुसार स्फोट रूप शब्द ब्रह्म का व्यञ्जित करने वाला और श्रवण न्द्रिय और अथ ही ध्वनि है साहित्यकारो ने इसी ध्वनि का आधार लेकर यञ्जना यापार क द्वारा प्रतीयमान अथ को व्यक्त करने वाले का यादि का ध्वनि कहा है। अत प्रकट है कि जिसम प्रतीयमान

---

१ ध्वन्यालोक पृष्ठ १२

२ शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया कथा। काव्यालंकार।

३ शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्या गुणवृत्तिश्च।
"विवरण—उद्भट।

४ यतोऽलक्षणकृतामेव स केवल न प्रसिद्ध लक्ष्येषु परिक्ष्यमाणे स एव सहृ यह्लादकारिकाव्यतत्वम। ध्वन्यालोक—पृष्ठ ५४

५ इद उत्तममतिशायिनि यस्य वाच्ये द् ध्वनिर्बुध कथित का० प्र० १।४

अर्थ हो, उस वाच्य को ध्वनि कहना चाहिए, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, अपितु जहाँ पर प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता हो तथा जहाँ शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ अपने आपको गौण करके प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराते हैं वहाँ ध्वनि होगी।[1] इस परिभाषा से तीन बातें प्रतीत हुई (१) शब्द और अर्थ दोनों का ध्वनि हो सकना (२) मुख्यार्थ का अप्रधान होना (३) प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता। इस प्रकार ध्वनि में उस प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता होती है जिसे 'काव्यात्मा' कहते हैं। इस ध्वनि का बोध जिस वृत्ति द्वारा सम्भव है उस शब्द का व्यञ्जना व्यापार कहा है अर्थात् 'अभिधादि के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय श्रोता की प्रतिभा की सहायता से एक नवीन अर्थ का द्योतित करता है, इस नवीन अर्थ का द्योतित करने वाली शक्ति व्यञ्जना है'[2] इससे काव्य के वास्तविक सौन्दर्य का ज्ञान सहृदयों को व्यक्त होता रहता है। अतः काव्य में मुख्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य गुप्त अर्थ को व्यक्त करने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना कहा जाता है। मम्मट ने सम्पूर्ण रूप में व्यञ्जना की कोई परिभाषा नहीं बताई है, अपि तु अभिधामूला[3] और लक्षणा मूला व्यञ्जना के स्वरूप का निर्धारण अलग अलग किया है। आचार्य विश्वनाथ का लक्षण अधिक समुचित है। उनके अनुसार 'अभिधा और लक्षणा द्वारा कार्य सम्पन्न करके शान्त हो जाने पर जिस स्थान से किसी व्यापार द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, वहीं व्यञ्जना शक्ति ही मानी जायगी।'[4]

ध्वनि और व्यंग्य—ध्वनि होने पर व्यंग्य अवश्य होगा अर्थात् ध्वनि महाविषय और व्यंग्य लघु विषय है। जहाँ व्यंग्य होगा वहाँ ध्वनि अवश्य होगी ऐसा नहीं कहा जा सकता और ध्वनि की स्थिति से व्यंग्य का होना अनिवार्य है। इस व्यंग्य का बोध जिस शक्ति (शब्द की) द्वारा होता है उसे व्यञ्जना व्यापार कहते हैं इस प्रकार व्यंग्य की यह सत्ता सतत प्रवाहित होती रही है।

---

१ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थौ व्यङ्क्तः काव्य विशेष स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ध्व या० १/१३

२ तच्छक्त्युपजनितार्थावगमपवित्रित प्रतिपत्त प्रतिभासहायार्थ द्योतन शक्ति व्यञ्जकत्वम्—काव्यानुशासन १/२० पृष्ठ ५६, आचार्य हेमचन्द्र सूरि।

३ का० प्र० द्वि० उ०—पृष्ठ ५८, ६३

४ विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः। सा वृत्ति र्व्यञ्जनानाम् सा० द० परि० २ पृष्ठ ७३

ज्ञान द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, इसमें प्रतिभा के साहाय्य की आवश्यकता मानी गयी है। इस प्रकार जन्मान्तर के संस्कार का भी संकेत प्राप्त होता है।[1]

गदाधर—गदाधर ने अपने 'शक्तिवाद' में केवल अभिधा और लक्षणा का ही उल्लेख किया है। परन्तु जहाँ उनके टीकाकारों में कृष्णभट्ट गौणी और व्यञ्जना का अन्तर्भाव लक्षणा में करते हैं।[2] वहीं पर माधवी टीका में व्यञ्जना को एक अलग शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] और कृष्ण भट्ट के शक्ति विभाग का खण्डन किया गया है। परन्तु सिद्धान्तपक्ष इसको न मानते हुए व्यंग्यार्थ ज्ञान भी पदों की अभिधा शक्ति के ज्ञान से ही मानता है अर्थात् वाच्यार्थ ज्ञान ही व्यंग्यार्थ का कारण है। अतः सिद्ध हुआ कि जब अभिधा से अलग किसी अन्य वृत्ति से प्रतीयमान अर्थ का बोध हो ही नहीं सकता है और अभिधा ही सारे व्यापारों में रहती है तो व्यञ्जना का अलग अस्तित्व मानना उचित नहीं है।[4] सहृदयों ने अभिधा के आधार पर व्यञ्जना को माना है परन्तु नैयायिकों के अनुसार प्रतीयमान अर्थ का बोध व्यञ्जना नामक शक्ति से न होकर सहृदय के मन की कल्पना से होता है।[5]

इस प्रकार प्रकट हो गया कि व्यञ्जना के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। (१) नैयायिकों या मीमांसकों द्वारा उसे न मानना। (२) साहित्यिकों या आलंकारिकों द्वारा उसकी सिद्धि। स्पष्ट है कि साहित्यिक का साक्षात् सम्बन्ध भावजगत से है और भाव प्रतीक बनकर ही हमारे समक्ष आते हैं। अतः शब्द द्वारा भावों का मानस बोध साहित्यिकों का अनिवार्य अंग है। उत्तम काव्य की कसौटी भी साहित्यिकों के मत से व्यञ्जना की

---

१ एवं च शक्तिरेखा न गृहीतवाच्य बाधिका व्यञ्जना तु जन्मान्तर गृहीता इत्यपि शक्तिरस्या भेदकम्। व० सि० म—

२ एवं च गौणीव्यञ्जनयोः पृथग्वृत्तित्वमयुक्तं तयोर्लक्षणायाम् अन्तर्भावसम्भवात् (शब्द शक्ति टीका मञ्जूषा) पृ० १

३ एतद्विभाजनमनुपपन्नं, व्यञ्जनाया अतिरिक्तवृत्तित्वात्। शक्तिवाद माधवी टीका पृ० २

४ व्यञ्जनावृत्त्यन्तरव्यङ्ग्यशाब्दत्वध्यस्य कार्यतावच्छेदककोटौ गौरवात्। माधवी टीका पृ० २

५ मनसैव तादृशबोध स्वीकारात्। माधवी टीका पृ० २

प्रधानता म हो है।[1] दार्शनिकों का काम तो केवल प्रमाण की सिद्धि में ही है। अत उनका काम व्यञ्जना के बिना भी चल सकता है, परन्तु साहित्यिक के लिये इसकी अनिवार्यता स्वय सिद्ध है। नैयायिकों के मत से श्लेष द्वारा जहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, उसका ज्ञान भी अभिधा द्वारा ही होता है। अत प्रतीयमान अर्थ के लिये अभिधामूला व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है पर तु सहृदयों के अनुभवों से प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि अपने आप ही हो जाती है। भेद केवल इतना ही है कि आलङ्कारिक इसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक वृत्ति से मानता है, परन्तु नैयायिक प्रतीयमान अर्थ का बोध मन द्वारा मानता है और सहृदय के मन की कल्पना का ही प्रधान मानता है। "मनसव शाब्दबोध स्वीकारात्म।"[2] इस प्रकार मानस बोध का बहुत अधिक महत्त्व होता है।

साहित्यशास्त्रियों के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों के गौण हो जाने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति शब्द के जिस व्यापार द्वारा होती है उसी को व्यञ्जना माना गया है वस्तुत इस शक्ति द्वारा एक गूढ अर्थ का ज्ञान सहृदय को हो जाता है। जो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में ही छिपा रहता है। वह अर्थ सहृदय के अन्वेषण का विषय होता है। इस प्रकार अभिधा और लक्षणा द्वारा जिस अर्थ का प्रकाशन नहीं हो पाता है उसी का प्रकाशन व्यञ्जना द्वारा होता है। हेमचन्द्र सूरि ने कहा है कि अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय श्रोता की प्रतिभा की सहायता से एक नवीन अर्थ को द्योतित करता है इसी नवीन अर्थ को बताने वाली शक्ति व्यञ्जना है।[3] इस परिभाषा से कई बातें ज्ञात होती हैं —(१) अभिधाशक्ति का सहाय्य (२) सहृदय की प्रतिभा का सहाय्य (३) वाच्य भिन्न एवं नवीन अर्थ की अभिव्यक्ति (४) इस नवीन अर्थ को द्योतित करने वाली शक्ति का व्यञ्जना कहते हैं। (५) वाच्य अर्थ व्यंग्यार्थ प्रतीति का साधन हुआ।

व्यञ्जना की स्थापना करने वाले मम्मट के काव्य प्रकाश का अध्ययन करने से मुझे ज्ञात हुआ कि इन्होंने व्यञ्जना के स्वरूप का निर्धारण वहीं पर

---

१ इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै कथित,—'
काव्य प्रकाश प्र० उ०।

२ माधवी टीका पृ० ३

३ तच्छब्दस्य राजनिताभिर्गमपविनितप्रतिपत्तप्रतिभा सहाय द्योतन शक्ति व्यञ्जकत्वम्। काव्यानुशासन १/२० पृ० ५६

भी नहीं किया है। यह बडे आश्चर्य की बात है कि समास शैली में अपने ग्रन्थ का निर्माण करने वाले आचार्य ने सभी व्यञ्जना विरोधी मतों का खण्डन एवं निराकरण करने में प्रबलतम तर्कों को दे सकने में समर्थ हो सका है उसी की दृष्टि से व्यञ्जना की परिभाषा क्यों छूट गयी? उन्होंने व्यञ्जना के स्वरूप का निर्धारण न करते हुए केवल शाब्दी व्यञ्जना के भेदों का ही वर्णन किया है और इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें बतलाई गयी हैं —

(१) अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना में संयोगादि नियामक हेतुओं की महत्ता होती है।

(२) इनके द्वारा मुख्यार्थ के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर ही एक दूसरे अमुख्यार्थ अर्थ की प्रतीति होती है।

(३) लक्षणा में प्रयोजन का बोध कराने में व्यञ्जना व्यापार ही रहता है, शब्द की अन्य वृत्ति द्वारा यह कार्य सम्भव नहीं है।[1]

(४) व्यञ्जनावृत्ति, अभिधा आदि से पूर्णतः भिन्न एवं दूसरी ही वृत्ति है और इसका समावेश अन्य वृत्तियों में नहीं हो सकता है।

(५) कोई भी शक्ति अभिधा व्यञ्जना या तात्पर्या एक से अधिक अर्थों की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं हो सकती है, क्योंकि उसकी शक्ति एक अर्थ का बोधन करा देने के उपरान्त क्षीण हो जाती है अतः दूसरे या तीसरे अर्थ का बोधन कराने के लिए अन्य शक्तियों को मानना ही पड़ता है।

(६) व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बाद अथवा लक्ष्यार्थ के बाद भी हो सकती है। यह आवश्यक नहीं कि लक्षणा के बाद ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो।

(७) व्यञ्जना के द्वारा अर्थ का बोध होने में शब्द और अर्थ दोनों का साहचर्य बना रहता है। अर्थात् शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ की सहकारिता और आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता बनी रहती है।

(८) व्यञ्जना शब्द की ही शक्ति है अर्थ की नहीं, फिर भी जिस वाक्य में शब्द प्रमाण से वेद्य कोई अर्थ पुनः किसी अन्य अर्थ को व्यञ्जित करता है वहाँ अर्थ व्यञ्जक है और शब्द उसका केवल सहायक मात्र है।[2] अर्थात् शब्द से प्रतीत होने वाला अर्थ ही व्यञ्जक होगा।

---

१ का० प्र० द्वि० उ० 'यस्य प्रतीति ...

२ का० प्र० तृ० उ– ३/२१ पृ ८९।

व्यजना-भेद

व्यजना का स्वरूप निर्धारित हो जाने के उपरात उसके भेदो का प्रश्न हमारे समक्ष आता है। आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश मे इसके प्रमुख दो भेदो का नाम है ता । (१) शाब्दी व्यजना और (२) आर्थी व्यजना। क्रमश इन दोनो पर विचार किया जायगा।

शाब्दी व्यजना शाब्दी व्यजना के दो भेद किये गये हैं। इन दोनो मे प्रथम शब्द का आधार ग्रहण करता है और दूसरे का रूप लक्षक शब्द पर निर्भर रहता है। वाच्यार्थ को बताने मे शब्द की अभिधा शक्ति एव लक्ष्यार्थ को बताने मे लक्षणा शक्ति अपना कार्य करती है। इन्ही दो शक्तियो के आधार पर शाब्दी व्यजना के दो भेद अभिधामूला और लक्षणामूला शाब्दी व्यजना किया गया है।

अभिधामूला शाब्दी व्यजना व्यजना के इस भेद मे सदैव ही दो अर्थ वाले शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् प्रयुक्त शब्दो मे श्लेष का होना अनिवार्य है। इसी रूप के आधार पर दो अर्थ अपने आप प्रकट हो जाते हैं। इन दो अर्थों मे एक अर्थ कवि या वक्ता का अभिप्रेत होता है और वही प्रस्तुत अथवा प्रकरण सम्मत अर्थ माना जाता है। यहा पर सयोग वियोगादि नियामक हेतुओ के कारण अभिधा एक अर्थ मे नियन्त्रित हो जाती है और इसी नियन्त्रित अर्थ को वाच्यार्थ कहा जाता है। अभिधा के एकार्थ मे नियन्त्रित हो जाने के उपरात भी शब्द के द्वयर्थक होने के कारण एक अन्य अर्थ की प्रतीति भी सहृदय विज्ञ को होती रहती है। यह दूसरा अर्थ अप्रासगिक अथवा प्रस्तुत प्रसग के अनुकूल न होने से कवि का अभिप्रेत अर्थ नही होता है फिर भी उसकी प्रतीति होती रहती है। इस प्रकार प्रकट हो जाता है कि सयोगादि नियामक हेतुओ के द्वारा अभिधा के एकार्थ मे नियन्त्रित हो जाने पर भी अप्राकरणिक जिस दूसरे अर्थ का ज्ञान होता रहता है उसमें शब्द की अभिधा शक्ति काम नही कर सकती है, क्योकि उसका एकार्थ में नियन्त्रण हो चुका है। अत यहाँ पर अभिधामूला शाब्दी व्यजना

का ही व्यापार माना जायगा। आचार्य मम्मट ने भी कहा है कि "अनेकार्थक शब्द के वाचकत्व के एक अर्थ में संयोगादि नियामक हेतुओं द्वारा नियन्त्रित हो जाने पर भी जब दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है, तो उसमें व्यंजना का ही व्यापार माना जाता है।[1] इस प्रकार व्यक्त हो जाता है कि व्यंजना के इस भेद में मुख्यार्थ से अतिरिक्त एक अमुख्यार्थ का होना आवश्यक है और इसमें जब अभिधा और लक्षणा अपना कार्य समाप्त करके शान्त हो जाती हैं, तभी व्यंजना शक्ति का व्यापार होता है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि किसी भी शक्ति द्वारा एक से अधिक अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः एक ही शब्द द्वारा दो या अधिक अर्थों के ज्ञान के लिए व्यंजना जैसी शक्ति को मानना पड़ता है। इसमें वाच्यार्थ के ठीक बाद अभिधामूला शाब्दी व्यंजना से व्यंग्यार्थ का बोध हो जाता है। इसमें अभिधा और व्यंजना केवल दो शक्तियों का ही व्यापार रहता है।

व्यंजना द्वारा इस व्यंग्यार्थ के बोध के लिए शाब्दी और आर्थी दो भेद मान लिए जाने पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यंजना तो शब्द की शक्ति है तो उसका भेद केवल शाब्दी ही होना चाहिए आर्थी नहीं? यदि आर्थी भेद मानें तो इसे शब्द की शक्ति नहीं कहेंगे, अपितु अर्थ की ही शक्ति इसे माननी चाहिए। इस शंका का समाधान आचार्य मम्मट ने करते हुए कहा है कि 'शब्द प्रमाण से गम्य अर्थ जहाँ अर्थान्तर को व्यक्त करता है, वहाँ अर्थ का व्यंजकत्व होते हुए भी शब्द का सहकारित्व रहता है[2] और इसी प्रकार शब्द के व्यंजकत्व के संग अर्थ का सहकारित्व रहता है। भाव यह है कि जहाँ अर्थ व्यंजक होता है, वहाँ शब्द का सहकारित्व और जहाँ शब्द-व्यंजक हो वहाँ अर्थ का सहकारित्व बना रहता है। इस प्रकार शाब्दी या आर्थी किसी भी भेद में शब्द और अर्थ दोनों का सहकारित्व बना रहता है।

अभी बताया गया है कि अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना में शब्द का द्व्यर्थक होना आवश्यक है परन्तु लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना में उसका द्व्यर्थक

---

१ अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्। का० प्रकाश

२ शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता॥

—का० प्र० तीसरा उल्लास

होना आवश्यक नहीं है। अभिधामूला के दो अर्थों में एक वाच्य अर्थ होता है और दूसरा व्यंग्य अर्थ होता है। इसमें शब्द का अधिक महत्व होने के कारण ही इसे शाब्दी व्यंजना कहा गया है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में कुछ आवश्यक तत्व होते हैं, उन्हें भी समझ लेना समीचीन होगा।

तत्व—व्यंजना के अभिधामूला शाब्दी भेद के तीन आवश्यक तत्व हैं। (१) शब्द को अनेकार्थक होना चाहिए। (२) उस शब्द की अभिधाशक्ति प्रकरणादि के कारण एक अर्थ में नियन्त्रित हो जानी चाहिए। (३) उसके नियन्त्रित हो जाने पर भी सहृदयों को अपनी प्रतिभा के कारण एक अन्य अर्थ अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान होना चाहिए। यदि दोनों ही अर्थ प्रकरण सम्मत हो जाय, तो वहाँ व्यंजना न होकर श्लेष अलंकार माना जाता है और वह व्यंग्य रूप न होकर वाच्यरूप ही होगा। ध्यान देने की बात यह है कि अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में एक अर्थ प्राकरणिक और अन्य अर्थ अप्राकरणिक होना चाहिए। मम्मट द्वारा दिए गये उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जायगा।

इस उदाहरण[1] में अर्थ स्पष्ट दीख पड़ते हैं। इनमें पहला अर्थ राजा परक प्रकरण सम्मत अर्थ है और इसी अर्थ को व्यक्त करना कवि का अभिप्रेत अर्थ है। यह अर्थ शब्द की अभिधाशक्ति द्वारा हमें प्राप्त हो जाता है। अभिधा द्वारा इस राजा परक अर्थ का ज्ञान हो जाने पर भी एक दूसरा अप्राकरणिक अर्थ हाथी परक प्रतीत होता है। इस अर्थ का बताना कवि का उद्देश्य नहीं है, फिर भी शब्दों के श्लेषात्मक होने से एक दूसरे अर्थ का ग्रहण अपने आप हो जाता है। यहाँ पर अभिधाशक्ति द्वारा राजा परक अर्थ में अब प्रयुक्त शब्दों का नियन्त्रण हो जाता है, तो हस्ति परक दूसरे अर्थ का ज्ञान पुनः इसी शक्ति द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। साथ ही यहाँ श्लेष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्लेष में दोनों ही अर्थ प्राकरणिक होते हैं। इस उदाहरण में प्रथम अर्थ प्राकरणिक और द्वितीय अर्थ अप्राकरणिक है। अतः इस द्वितीय अर्थ को बताने में निस्सन्देह शब्द की अभिधाशक्ति न होकर व्यंजना शक्ति ही होगी। इन दोनों अर्थों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

राजापरक अर्थ—वह राजा भद्र आत्मा वाला था, उस पर आक्रमण करना कठिन था। विशाल शरीर वाला उन्नत वंश में उत्पन्न तथा उसने बाणों

---

1. भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृत शिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य, दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥

का संग्रह अथवा अभ्यास कर रखा था। जिसकी गति अप्रतिहत थी। शत्रुओं का रोकने वाला था। उसका हाथ दान के जल से सदैव अभिषिक्त रहता था।"

'राजापरक' इसी अर्थ को बताना कवि का उद्देश्य है अर्थात् राज विषयक रति का वर्णन ही कवि करना चाहता है और यही प्राकरणिक अर्थ भी है, फिर भी एक दूसरे हस्तिपरक अर्थ का भी जो अप्राकरणिक है—ज्ञान होता है।

हस्तिपरक अर्थ—वह हाथी अच्छी जाति का था, उस पर चढ़ने में कठिनाई होती थी। शरीर विशाल एवं बाँस के समान उन्नत था। उसने भ्रमरों का संग्रह कर रखा था अर्थात् भौंरे उसके मस्तक पर मँडराया करते थे। उसकी मन्द मन्थर गति थी तथा उसका सूँड सदैव मद जल के सेक से सुशोभित होता रहता था।

इस उदाहरण से प्राप्त दोनों ही अर्थों में सार्थकता प्रतीत होती है, परन्तु 'भद्रात्मा, दुरधिरोह, वंशोन्नत कृत शिलीमुख संग्रहस्य' आदि प्रयुक्त शब्दों का नियंत्रण राजापरक एकार्थ में हो जाता है फिर भी हस्तिपरक दूसरे अर्थ की प्रतीति भी होती रहती है। इसी से यहाँ व्यंजना का व्यापार माना जाता है।

प्रकरण की महत्ता—उपर्युक्त पंक्तियों में अभिधामूला व्यंजना की इयत्तता का समर्थन किया गया है। साथ ही प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक अर्थ का भी संकेत किया गया है। यहाँ यह प्रश्न है कि व्यंजना शक्ति द्वारा अर्थ का ज्ञान होने में क्या प्रकरण का भी महत्त्व है? विचार करने से ज्ञात होता है कि वक्ता, बौद्धा, देश, काल, काकु वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि आदि का अत्यधिक महत्त्व रहता है और व्यंजना बोध में इनकी सहायता अनिवार्य मानी जाती है। आचार्य मम्मट ने भी इसका समर्थन आर्थी व्यंजना के प्रकरण में किया है[1] और इस सम्बन्ध में एक सम्पूर्ण उल्लास ही अलग से लिखा गया है।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि प्रकरण का ज्ञान होने पर ही सहृदय जब उससे सम्मत अभिधाशक्ति द्वारा मुख्यार्थ की संगति बठा लेता है, तभी उसे व्यंग्यार्थ का भी ज्ञान होता है।

---

१ वक्तृ बोधव्य काकूनां वाक्यवाच्यान्य सन्निधेः
प्रस्ताव देश कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यधीर्हेतुः व्यापारो व्यक्तिरेवसा। काव्य प्रकाश

आचार्य मम्मट ने वक्तृ बोधव्य आदि का वर्णन आर्थी व्यञ्जना के प्रसंग में किया है। विश्वनाथ ने भी इसका समर्थन किया है तो क्या शाब्दी व्यञ्जना में इसकी महत्ता नहीं है? प्रदीप टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने बताया है कि आर्थी व्यञ्जना में तो इसकी अपेक्षा रहती ही है, परन्तु शाब्दी व्यञ्जना में भी कभी कभी इसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। श्री भोलाशंकर व्यास ने अपने शोध ग्रंथ में लिखा है कि 'हमारे मतानुसार किसी भी प्रकार की व्यंग्यार्थ प्रतीति में प्रकरण की महत्ता माननी ही पड़ेगी। व्यंग्यार्थ प्रतीति सहृदय की प्रतिभा के कारण होती है। इस प्रतिभा को उद्बुद्ध करने वाले प्रकरण ही हैं। अतः प्रकरण ज्ञान के बाद ही व्यंग्यार्थ प्रतीति हो सकती है।'[1]

आचार्य मम्मट ने भी इस प्रकरण को स्वीकार किया है, परन्तु स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख न करके उन्होंने केवल इसका संकेत मात्र कर दिया है। अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि अभिधा का नियन्त्रण प्रकरणादि के कारण वाच्यार्थ में हो जाता है। अतः व्यञ्जना की प्रतीति में प्रकरणादि सहायक होते हैं और शाब्दी व्यञ्जना में भी वे प्रकरण का महत्त्व मानते हैं। इसी का उल्लेख उन्होंने किया भी है[2] और इन्हें ही अभिधामूला व्यञ्जना के नियामक हेतु कहते हैं।

नियामक हेतु—(१) संयोग अर्थात् किसी शब्द का एक निश्चित अर्थ दूसरे शब्दों के संयोग से होता है। जैसे 'शङ्खचक्रो हरिः।' इसमें हरि के इन्द्र, सिंह, बन्दर, घोड़ा आदि अनेक अर्थों में से शब्द के संयोग से इसका अर्थ विष्णु से ही लगाया जाता है।

(२) विप्रयोग—यह संयोग का विलोम है। जैसे 'अशङ्खचक्रो हरिः।' यहाँ शब्द के वियोग से भी हरि (विष्णु) का ही अर्थ मान्य होगा।

(३) साहचर्य—कभी कभी दो वस्तुओं के साथ साथ रहने की पर

---

१ ध्वनि सम्प्रदाय और उसके वाद। भोलाशंकर व्यास पृ० १८६

२ संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः। काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास

म्परा से भी किसी शब्द का एक ही अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है। जैसे 'राम लक्ष्मणौ' में राम का अर्थ दाशरथि राम ही है।

(४) विरोध—एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के विरोध को समझ कर प्रकरणादि के द्वारा किसी शब्द का एक निश्चित अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। "रामार्जुन गतिस्तयो" में राम के विरोध के कारण अर्जुन का अर्थ कार्तवीर्य से लगाया जायगा और इसी विरोध के कारण राम का अर्थ परशुराम होगा।

(६) अर्थ—जहाँ अनेकार्थक शब्द को एक अर्थ में नियन्त्रित करने वाला दूसरा अर्थ हो तो वहाँ अर्थ ही नियामक हेतु होता है। "स्थाणु भज भवच्छिदे" में स्थाणु का अर्थ ठूँठ न होकर शिव से लगाया जायगा, क्योंकि संसार का दुःख मिटाने का ठीक अर्थ शिव से ही लगेगा ठूँठ से नहीं।

प्रकरण—जहाँ प्रकरण या प्रसंग के आधार पर अर्थ का निश्चय होता है। जैसे 'सैन्धवमानय' का रसोईघर में अर्थ नमक और बाहर जाने को तैयार व्यक्ति द्वारा कहे जाने पर घोड़ा' होगा।

(७) लिंग—जब किसी चिह्न को देखकर अनेकार्थवाची शब्द का कोई विशेष अर्थ लिया जाता हो तो वहाँ लिंग ही उसका नियामक हेतु होता है। जैसे 'कुपितो मकरध्वज' में क्रुद्ध होना चिह्न है। इसमें 'कामदेव' अर्थ ही होगा समुद्र या औषधि विशेष नहीं।

(८) सामर्थ्य जब एक शब्द के सामर्थ्य के आधार पर एक विशिष्ट अर्थ लिया जाता है तो भी इसे नियामक कहते हैं जैसे 'मधुना मत्त कोकिल" वाक्य में मधु (बसंत) में ही कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य है। मधु के अन्य अर्थ, पराग, शराब शहद आदि भी होते हैं।

(९) अन्य शब्द की सन्निधि—जब एक शब्द के सान्निध्य पर अर्थ का नियमन होता हो तो भी वह नियामक हेतु हो जाता है। जैसे 'पुरारातिः' में त्रिपुरा के शत्रु रूप में महादेव का ही अर्थ ग्रहण होगा।

(१०) औचित्य—के आधार पर अर्थ का नियमन होता है। जैसे 'अर्क भाति' में अर्क का अर्थ सूर्य ही होगा, क्योंकि वही दिन में चमकता है।

(११) देश—के आधार पर भी अर्थ का नियन्त्रण होता है "भात्यत्र परमेश्वर" वाक्य का प्रयोग राजधानी में करने का इसका अर्थ राजा से लगाया जायगा। अन्य स्थानों पर परमेश्वर का अर्थ ईश्वर से होगा।

(१२) काल—के आधार पर रात्रि में प्रयुक्त "चित्रभानुर्विभाति" में चित्रभानु का अर्थ अग्नि, और दिन में प्रयुक्त होने पर सूर्य होगा।

(१३) व्यक्ति—में लिंग को नियामक हेतु मानते हैं। जैसे मित्र भाति में मित्र नपुंसक लिंग है। अतः इसका अर्थ सुहृद् होगा और "मित्रो भाति" वाक्य में मित्र के पुंलिंग होने से इसका अर्थ सूर्य होगा।

(१४) स्वर—द्वारा शब्द के प्रयोग से अर्थ बदल जाता है। स्वरों का महत्व वेद में ही अधिक माना गया है और इसका उदाहरण "इन्द्रशत्रु" दिया गया है।

(१५) चेष्टा—से हस्तादि के संकेत का अर्थ ग्रहण होता है अर्थात् अभिनय से भी अर्थ एक ही में नियन्त्रित हो जाते है।

इस प्रकार अनेकार्थक शब्दों को एकार्थ में नियन्त्रित करने के उपर्युक्त पन्द्रह नियामक हेतु कहे गये है और इनका बड़ा महत्व होता है। इसी प्रकार व्यञ्जनादि बोध के लिए अभिधा नामक शब्द शक्ति का भी अधिक महत्व माना गया है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—पहले बताया जा चुका है कि लक्षक शब्द के आधार पर होने वाली व्यञ्जना को लक्षणामूला कहते हैं। इसमें किसी प्रयोजन विशेष की प्रतीति के लिये ही लाक्षणिक पद का प्रयोग किया जाता है। यह दो प्रकार का हो सकता है। कभी तो यह गूढ़ व्यंग्य और कभी अगूढ़ व्यंग्य होता है। गूढ़ व्यंग्य का निम्नलिखित उदाहरण आचार्य मम्मट ने दिया है—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते॥

इसमें स्मित का विकसित होना, प्रेक्षण में वशीकरण होना विभ्रम का छलकना आदि प्रयोगों में अन्वयानुपपत्ति है। अतः सहृदय ही इसके वास्तविक अर्थ विकास में उन्मुक्तता वशीकरण में स्वभाव सिद्धता समुच्छलन में प्रचुरता—आदि का बोध करते हैं। यह अर्थ गूढ़ है और जल्दी से समझ में नहीं आता है। इसी से इसे गूढ़ व्यंग्या लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। यहाँ पर अन्वयानुपपत्ति से प्रयुक्त शब्द अर्थान्तर में लक्षणा द्वारा संक्रमित हो जाते हैं।

अगूढ़ व्यंग्या—इसमें व्यंग्यार्थ का ज्ञान बिना किसी परिश्रम के ही सहृदयों को हो जाता है अर्थात् इसमें गूढ़ार्थ न होने से अगूढ़ स्पष्ट होता है। यथा—

"श्री परिचयाज्जडा अपि भवत्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥"

इसमें प्रयुक्त 'उपदिशति' पद यौवनमद के साथ उपदेश कार्य का वहन करने में असमर्थ होने से अर्थान्तर का बोध करता है। इससे 'आविष्कार' अथवा 'प्रकाशन' रूप अभिप्राय लक्षित हो जाता है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना में भी प्रकरण का महत्व होता है। दिये गये उदाहरण में वक्ता और बोद्धादि का महत्व अवश्य है। यहाँ पर जो व्यक्ति प्रकरण के ज्ञान से युक्त है, वही व्यंग्यार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा लक्षणामूला में प्रयोजन रूप व्यंग्य, शब्द से ही निकलता है। शब्द का महत्व यहाँ पर भी रहता है और इस शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है।

आर्थी व्यंजना—व्यञ्जना युक्त शब्द या अर्थ व्यञ्जक कहा जाता है और इससे व्यक्त होने वाले अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। इस व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराने की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में रहती है। इसी से शब्द और अर्थ दोनों के ध्वनित्व को स्वीकार किया गया है। इनमें जब शब्द के आधार से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तो शाब्दी व्यञ्जना और जब अर्थ के आधार पर व्यंग्यार्थ का बोध होता है तो आर्थी व्यञ्जना कहा जाता है। कुछ लोगों ने तो केवल आर्थी व्यञ्जना को ही स्वीकार किया है और शाब्दी व्यञ्जना को नहीं माना है।

ध्वनिकार ने बताया है कि आर्थी व्यञ्जना में भी शब्द का सहकारित्व अवश्य रहता है। मम्मट के अनुसार आर्थी व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति का साधन भी कोई न कोई विशेष शब्द ही होता है। इस प्रकार आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहकारित्व बना रहता है।[1] ध्वनिवादी ने भी जो पद, पदांश आदि का भेदाभेद किया है, इससे भी शब्द की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। आचार्य विश्वनाथ ने भी इस सहकारित्व को स्वीकार किया है।[2]

---

१ शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः। अर्थस्य व्यञ्जकत्वेऽपि शब्दस्य सहकारिता। काव्यप्रकाश ३/२३

२ शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्जकत्वे स्यादन्यस्य सहकारिता। साहित्य दर्पण उ० २
यत्सोऽर्थान्तरयुक्तया। अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः। काव्यप्रकाश २/२०

अत आर्थी-व्यञ्जना में शब्द की अवहेलना नहीं की जा सकती है। फिर भी शब्द की अपेक्षा इसमें अर्थ की प्रधानता अधिक रहती है। विश्वनाथ के अनुसार 'व्यञ्जना में शब्द और अर्थ में से एक के व्यञ्जक होने पर दूसरा भी सहकारी व्यञ्जक अवश्य होता है। शाब्दी में दूसरे अर्थ का आश्रय लेकर ही शब्द व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति कराता है आर्थी में व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति कराने वाला व्यञ्जक अर्थ भी किसी शब्द से ही प्रतीत होता है। इस तरह दोनों दशाओं में दोनों ही एक दूसरे के सहायक होते हैं।"

विभाजन के आधार—आर्थी व्यञ्जना में व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने में अर्थ की ही महत्ता रहती है। अर्थ तीन प्रकार के—वाच्य लक्ष्य और व्यङ्ग्य कहे जाते हैं। आचार्य मम्मट ने इन तीनों प्रकार के अर्थों में व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार किया है और कहा है कि प्रायः सारे अर्थों में व्यञ्जकत्व पाया जाता है।[1] इन तीन प्रकार के अर्थों में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस दृष्टि से आर्थी-व्यञ्जना के तीन भेद हो जाते हैं अर्थात् एक अर्थ से व्यङ्ग्यार्थ रूप दूसरे अर्थ का ज्ञान होने में उसके तीन भेद किये जा सकते हैं।

(१) वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (वाच्य सम्भवा व्यङ्ग्यार्थ)
(२) लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (लक्ष्य सम्भवा व्यङ्ग्यार्थ)
(३) एक व्यङ्ग्यार्थ से दूसरे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति
(व्यङ्ग्य सम्भवा व्यङ्ग्यार्थ)

क्रमशः इन तीनों का वर्णन किया जायगा।

वाच्यार्थ-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना—किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों से जब साक्षात् सकेतित अर्थ का ज्ञान होता है, तो उसे वाच्यार्थ कहते हैं और यही मुख्य अर्थ भी कहा जाता है। इस मुख्यार्थ से जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति होती हो, वहाँ वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना कही जाती है यथा—

मातगृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी॥

इस उदाहरण से साधारण रूप में सर्वप्रथम मुख्यार्थ की प्रतीति होती है। इसे ही वाच्यार्थ कहते हैं। इस वाच्यार्थ के ज्ञान के साथ वक्त्री आदि के प्रकरण से एक दूसरे अर्थ का और ज्ञान हो जाता है। सामान्य अर्थ तो यह है कि

---

१ सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते। काव्यप्रकाश २/७

'हे माता, अपने पहले ही कह दिया है कि गृह के उपकरण नहीं हैं। अत क्या करना चाहिए ? कहो क्योंकि समय तो ऐसा ही न रहेगा।" इस अर्थ ज्ञान के उपरान्त दूसरा अर्थ यह प्रतीत होता है कि बोलने वाली वह स्त्री स्वैर विहार करना चाहती है।' इस व्यंग्य वस्तु की प्रतीति व्यंग्यार्थ रूप में ही हो जाती है, जो वाच्यार्थ की प्रतीति के उपरान्त ही होती है। इसी से इसे वाच्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना कहते हैं।

लक्ष्य सम्भवा-आर्थी व्यंजना—इसमें सर्वप्रथम प्रयुक्त शब्दों के द्वारा साक्षात संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है परन्तु इस अर्थ की संगति ठीक नहीं बैठती है और मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। अतः इसी वाच्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इस स्थान पर प्रयोजनवती लक्षणा का भेद माना जाता है और इस प्रयोजन का बोध कराना ही उद्देश्य होता है। प्रयोजन रूप इस लक्ष्यार्थ का ज्ञान शब्द की व्यञ्जना नामक शक्ति से होता है। इस लक्ष्यार्थ के प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ के साथ ही एक अन्य व्यंग्यार्थ का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार लक्ष्य सम्भवा में तीन अर्थों की प्रतीति होती है। प्रथम क्षण में मुख्यार्थ की प्रतीति, द्वितीय क्षण में मुख्यार्थ बाध होने पर तत्सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का ज्ञान और तृतीय क्षण में प्रकरण आदि के द्वारा वक्ता, बोद्धा आदि के ज्ञान के साथ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यथा —

साधयन्ती सखि ! सुभग क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भाव स्नेह करणीय सदृशकं तावद्विरचितं त्वया॥

इस उद्धरण का मुख्यार्थ यह है कि 'हे सखि, तू मेरे प्रिय की साधना करती हुई मेरे लिये क्षण क्षण में दुःखी होती हो। सद्भाव तथा स्नेह के युक्त तुझे जैसा करना चाहिये था, तूने वैसा ही आचरण मेरे संग किया है।"

लक्ष्यार्थ—वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाने के उपरान्त लक्ष्यार्थ रूप दूसरे अर्थ का ज्ञान हो जाता है कि हे प्रिय सखि ! तूने मेरे प्रिय को अपने पक्ष में साध कर मेरे स्नेह और सद्भाव के उपयुक्त आचरण नहीं किया है और अनुचित व्यवहार किया है।' इस द्वितीय अर्थ का ज्ञान हो जाने के उपरान्त प्रयोजन रूप इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है कि 'तूने शत्रुता की हद कर दी है' और इसी में एक अपर व्यंग्यार्थ भी व्यक्त होता है कि तूने तथा नायक ने मिलकर मेरे प्रति घोर अन्यायपूर्ण आचरण को व्यक्त किया है, जो किसी भी दशा में क्षन्तव्य नहीं है।

यहाँ पर मुख्यार्थ बाध होने पर विपरीत लक्षणा से लक्ष्यार्थ का ज्ञान हो जाता है और इस लक्ष्यार्थ के बाद 'तुम दोनों की सापराधता' रूप व्यंग्यार्थ का भान होता है अर्थात् शत्रुत्वातिशय का बोध कराना ही इसका उद्देश्य रहा है। ध्यान देने की यह बात है कि शाब्दी व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्द के कारण ही होती है और लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ की प्रतीति अर्थ के कारण होती है। इसमें व्यंग्यार्थ का ज्ञान लक्ष्यार्थ के ज्ञान के साथ ही होता है। प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी उसी शब्द से होती है, जिससे मुख्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ का भान होता है। अर्थात् लक्षणा पर आश्रित शाब्दी व्यञ्जना से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यंजना—इसमें मुख्यार्थ प्रतीति के बाद प्रकरणादि के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस व्यंग्यार्थ से पुनः एक अन्य व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार एक व्यंग्य से दूसरे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर इसे व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। यथा —

पश्य निश्चल निष्पन्दा बिसिनी पत्रे राजते बलाका।
निर्मल मरकत भाजन परिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव॥

इस उदाहरण में अंतिम व्यंग्यार्थ का ज्ञान चतुर्थ क्षण में होता है। इसका मुख्यार्थ यह है कि 'देखो कमल पत्र पर निश्चल और निष्पन्द बगुला स्वच्छ मरकत मणि के पात्र में रखी हुई शंख शुक्ति के समान शोभित हो रही है।

इस मुख्यार्थ से व्यंग्यार्थ की यह प्रतीति होती है कि बगुला पूर्णरूप से निर्भर और आश्वस्त है। इस व्यंग्यार्थ से दूसरे व्यंग्यार्थ की यह प्रतीति होती है कि निर्जनता के कारण से ही ये बगुले आश्वस्त हैं। अतः यह संकेत स्थल है। अथवा तुम झूठ बोलते हो यहाँ नहीं आये थे अन्यथा यह बगुला इतना आश्वस्त न रहता। इसमें 'निर्भरता' का ज्ञान निष्पन्द से होता है, इससे निर्जनता की प्रतीति और संकेत स्थल का ज्ञान होता है। पुनः प्रकरण से नायक द्वारा वहाँ न आने पर भी उससे बहाना बताने का भान हो जाता है।

अर्थ व्यंजकता के साधन—पहले यह बताया जा चुका है कि व्यंग्यार्थ बोध के लिए प्रकरणादि की बहुत अधिक महत्ता रहती है। इस प्रकरण ज्ञान को ही अर्थ व्यंजकता का साधन मान सकते हैं। आचार्य मम्मट ने कहा है कि

वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि प्रस्ताव, देश, काल और आदि (चेष्टा) के वशिष्ट्य से प्रतिभाशाली व्यक्तियों को व्यग्यार्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है।[1] यहा पर आदि शब्द से चेष्टा का ग्रहण किया गया है और प्रतिभा का अर्थ पूर्व जन्म का सस्कार विशेष है, जिनके कारण काव्य की रचना एवं अनुशीलन होता है। सहृदय का अर्थ काव्यानुशीलन से स्वच्छ बन मन वाले व्यक्ति से है।[2] ऐसे ही सहृदयों को वक्तादि के वशिष्ट्य से व्यग्यार्थ का बोध हो जाता है।

१ वक्तृबोधव्य—यहा वक्ता के स्वभाव से उसके कथन का मेल न बठने के कारण व्यग्यार्थ का ग्रहण करते हुए एक दूसरे अर्थ को प्राप्त कर लेते हैं। और इस प्रकार कथन की सगति बठ जाती है। यथा—

अति पृथुल जलकुम्भ गृहीत्वा समागता रिम सखि त्वरितम्।
श्रवस्वेदसलिलनि श्वासार्त्ता सहाविश्राम्यामि क्षणम्॥

यहाँ कहने वाली स्त्री के चरित्र का ज्ञान होने पर ही ज्ञात होता है कि वह स्त्री उपपति के पास रमण करने गई थी।

२ बोधव्य वशिष्ट्य—जहा बोधव्य (जिससे कहा जा रहा है) के स्वभाव के अनुकूल व्यग्यार्थ की प्रतीति सहृदय कर लेता है, वहाँ बोधव्य (जिससे कोई कथन किया गया है) वशिष्ट्य ही व्यग्यार्थ प्रतीति का कारण होता है। यथा —

औन्निद्र्य दौर्बल्य चिन्तालसत्व सनि श्वासितम्।
मम मन्दभागिन्या कृते त्वामपि अहह परिभवति।

इसमे नायिका के विरुद्ध आचरण करने वाली सखी ही बोधव्य है। उसके स्वभाव के कुलटा पन से ही यह दोषता व्यञ्जित हो जाती है।

३ काकु वशिष्ट्य—जहाँ पर कण्ठ की ध्वनि से व्यग्यार्थ की प्रतीति हो जाती हो वहाँ काकु-वशिष्ट्य मानते हैं। यथा —

---

१ वक्तृबोधव्य काकूनां वाक्य वाच्यान्य सन्निधे।
प्रस्ताव देशकालादेव शिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्॥
योऽर्थस्यान्यार्थ धीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेवसा॥ काव्य प्रकाश

२ यथा काव्यानुशीलनवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे
ते सहृदया सवान्भाजा।

तथाभूतं दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरं ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं,
गुरुः खेदं खिन्नमपि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

यहाँ पर न के प्रयोग में काकु है और वाक्य में किये गये प्रश्न का ज्ञान इससे हो जाता है। इसके प्रश्न रूप वाच्यार्थ से यह अर्थ बाधित होता है कि "युधिष्ठिर को मेरे प्रति क्रोध करना अनुचित है और कौरवों के प्रति क्रोध करना ही उचित है। अतः उनका यह आचरण विपरीत है।"

४ वाक्य वैशिष्ट्य—प्रयुक्त वाक्य की विशिष्टता से जब व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। यथा —

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानयीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥

इसमें 'मेरे कपोलों पर प्रतिबिम्बित सखी के बिम्ब पर तुम्हारी दृष्टि लगी हुई थी, उसके चले जाने पर तुम्हारा दृष्टि और ही हो गई। अतः इससे नायक का कामुकत्व व्यक्त हो जाता है।

५ वाच्य वैशिष्ट्य—जहाँ पर मुख्यार्थ की विशिष्टता से ही अर्थ बोध होता है।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणि शोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणी विभ्रमो नर्मदायाः ।
किं चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः
येषामग्रे सरति, कलिता काण्डकोपो मनोभूः ॥

यहाँ नर्मदा के आकर्षक तीर को देखकर विलासिनियों में विलास अंकुरित हो जाता है। सुरत क्रीडा का सहायक वायु प्रवाहित होता रहता है। और इनके आगे क्रुद्ध कामदेव चल रहा है। इस वाक्य द्वारा नायक की केलि सम्बन्धिनी अभिलाषा व्यक्त हो जाती है। इसमें स्थान का भी वैशिष्ट्य है।

६ अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य—जब अन्य व्यक्ति के पास में रहने से व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहृदय को हो जाय। यथा —

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्...

णुल्लक्खणमणा इमस्सुमा गृहभरे सकलं ।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्याया भवति न वा भवति विश्रामः ॥

यहाँ सखी से कथित इस वाक्य का उद्देश्य पास जाते हुए उपनायक को सुनाकर यह बताना है कि सन्ध्याकाल में ही मुझे कभी कभी समय मिलता है। अत यही सकेत काल है।

७ प्रस्ताव वैशिष्ट्य—वक्ता के प्रस्ताव से भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है—

'श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि! सज्जय करणीयम्।'

यहाँ वक्ता के कथन से ही प्रकट होता है कि यह अभिसरण करने का उचित समय नहीं है, क्योंकि तुम्हारे पति प्रहर मात्र में आने वाले हैं।

८ देश वैशिष्ट्य—जब देश या स्थान विशेष से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाय—

अन्यत्र यूय कुसुमावचाय कुरुध्व मत्रास्मि करोमि सख्य।
नाह हि दूर भ्रमितु समर्था प्रसीदताय रचितोऽञ्जलिर्व।

यहाँ 'इस स्थान' विशेष से ध्वनित होता है कि उपनायक को तुम यही भेज दो।

९ काल वैशिष्ट्य—काल के ज्ञान से भी व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो जाता है।

गुरु जन पर वश प्रिय! किं भणामि तव मन्दभागिनी अहम्।
अद्य प्रवास व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम्।

'यहाँ यह व्यंग्यार्थ है कि यदि आज मधुमास में तुम विदेश जाओगे तो मेरी मृत्यु अवश्य होगी और तुम्हारी क्या गति होगी, मैं नहीं जानती।'

१० चेष्टा—द्वारा भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुग परस्पर समासक्त समासादितम्॥
आनीत पुरत शिरोंऽशुकमध शिप्ते चले लोचने,
वाचस्तत्र निवारित प्रसरण सकोचिते दोर्लते॥

'मेरे उस सुन्दरी के द्वार से निकलने पर उसने अपनी जाँघों को फैला कर एक दूसरे से मिला लिया, सिर के वस्त्र को खींच लिया चचल नेत्र स्थिर कर लिये, बोलना बन्द कर दिया और हाथों को एक दूसरे से समेट लिया।'

इस उदाहरण मे शारीरिक चेष्टाओ आखो का सिकोडना घूघट का खीचना आदि से व्यग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है कि 'नीरव साध्यवेला मे शाति पूर्वक आजाना।" इन चेष्टाओ को देखकर ही इसके गूढ अर्थ रूप व्यग्यार्थ का भान हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर कहे गये दश प्रकार भेदों से आर्थी-व्यञ्जना का ज्ञान हो जाता है और इस ज्ञान मे वक्ता बोद्धादि तथा प्रकरण आदि का बहुत अधिक महत्व होता है। इन दश तत्वों मे से किसी एक ज्ञान से भी व्यग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। कभी कभी कई एक तत्व मिल कर भी व्यञ्जक बन जाते हैं। इन सभी तत्वो मे निहित व्यग्यार्थ की अव-स्थिति सहृदयो को होती रहती है।

व्यंजना की स्थापना

आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना करने के हेतु ध्वनि विरोधी तीन पक्षों की कल्पना की है। आरम्भ में उन्होंने 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' ऐसा मान लिया है। इस विचार का समर्थन पूर्व विद्वानों ने भी किया है, फिर भी प्रत्यक्ष-ग्रन्थों के आधार पर ध्वनि के अस्तित्व को न मानने वालों के तीन वर्गों की कल्पना की गई है।

(१) अभाववादी मत—इनके मत से ध्वनि है ही नहीं। इस विचार उद्बोधक भामह, भट्टोद्भट्ट आदि हैं। यह एक विपर्यय मूलक पक्ष है। इससे इसे ध्वनि की दृष्टि से निकृष्ट पक्ष का माना गया है।

(२) भाक्तवादी पक्ष—यह सन्देहमूलक होने से मध्यम पक्ष का माना गया है।

(३) अलक्षणीयतावादी पक्ष—इस पक्ष के लोग ध्वनि के अस्तित्व का स्वीकार करते हैं परन्तु इसका लक्षण कर सकना असम्भव नहीं मानते हैं। इस दृष्टि से यह एक अज्ञानमूलक पक्ष है और उपर्युक्त दो विचारों की अपेक्षा कम दूषित है, क्योंकि इसमें ध्वनि का स्पष्ट रूप से निषेध नहीं किया गया है।

ध्वनिकार का दो मन्तव्य स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है। प्रथम–ध्वनि सिद्धान्त का निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना करते हुए सभी ध्वनि विरोधी विचारकों का समुचित उत्तर देना और उनके मत का निराकरण करना। द्वितीय–रस, अलङ्कार रीति, गुण दोष विषयक सिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना तथा ध्वनि के रूप में एक सर्वाङ्ग पूर्ण सिद्धान्त की स्थापना करके अन्य सभी विचारों को उसके अंग रूप में स्वीकार करना। इन दोनों में प्रथम अर्थात् ध्वनि की स्थापना करने हेतु उपर्युक्त जिन तीन विरोधी पक्षों की सम्भावना की गई, उनमें प्रथम अभाववादी पक्ष है।

अभाववादी ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करते। इनके विचार से अन्य चारुत्व हेतुओं में ही ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसे विचारकों के तीन वर्गों का कल्पना मात्र यहाँ न की गई है —

(क) अभाववादियों के प्रथम वर्ग ने शब्द और अर्थ को ही काव्य शरीर माना है। ऐसे शब्द और अर्थ के चारुत्व हेतु दो प्रकार के माने जा सकते हैं —

(१) स्वरूपगत चारुत्व के अन्तर्गत अलंकारों की गणना होती है। इनमें शब्दगत चारुत्व हेतु अनुप्रासादि शब्दालंकार और अर्थगत चारुत्व हेतु उपमादि अलंकार माने गये हैं।

(२) संघटनागत चारुत्व—शब्द और अर्थ के संघटनागत चारुत्व हेतु वर्ण संघटना धर्म और माधुर्यादि गुण हैं। अलंकार और गुणों से अभिन्न उपनागरिकादि वृत्तियाँ और गुणों से अभिन्न वैदर्भी प्रवृति रीतियाँ भी हैं। उद्भट ने वृत्तियों का अन्तर्भाव अलंकार में माना है। रुद्रट ने अनुप्रास की पाँच प्रवृत्तियाँ मानी हैं। इसी प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित वैदर्भी प्रवृत्ति रीतियाँ माधुर्यादि गुणों से अव्यतिरिक्त हैं। अतः अभाववादियों के प्रथम वर्ग का यह मत है कि अलंकार और गुणों से व्यतिरिक्त अन्य कोई चारुत्व का हेतु सम्भव नहीं है।

(ख) अभाववादियों का द्वितीय विकल्प—इस मत में ध्वनि का अस्तित्व भी अस्वीकार किया गया है, क्योंकि परम्परा से काव्य का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है ध्वनि के मान लेने से उस प्रसिद्ध मार्ग का अतिक्रमण होने के कारण अन्य काव्य प्रकार में काव्यत्व की हानि होगी तथा काव्य का लक्षण नहीं बनेगा। इसका कारण यह है कि 'सहृदयहृदयाह्लादक शब्दार्थ युक्तत्व ही काव्य का लक्षण है और शब्दार्थ शरीर काव्य वाले मार्ग में वह काव्य लक्षण सम्भव नहीं है और न ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत किन्हीं स्वेच्छा कल्पित व्यक्ति को सहृदय मानकर उनके कथनानुसार किसी कल्पित नवीन ध्वनि में काव्य नाम का व्यवहार प्रचलित करने पर विद्वानों में मान्य ही होगा। इस विकल्प में तर्क का कोई ठोस आधार प्रस्तुत न करके केवल परम्परा की दुहाई दी गई है।

(ग) अभाववादियों का तीसरा विकल्प—इस मत के अनुसार ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ सम्भव ही नहीं है। यदि यह ध्वनि चारुत्व का अतिक्रमण नहीं करता, तो प्रथम विकल्प में कहे गये गुणालंकारादि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इस गुणालंकार रूप चारुत्व हेतुओं में से ही यदि किसी का नाम ध्वनि रख दिया जाय तो यह बहुत ही तुच्छ बात होगी। ध्वनिकार ने भी इस

विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि "वचन शैलियां के अनन्त प्रकार होने के कारण तथा काव्य लक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित यदि कोई भेद हो भी तो ध्वनि ध्वनि कह कर मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखें बन्द करके जो यह अकाण्ड ताण्डव किया जाता है, उसका कोई उचित कारण नहीं। अन्य विद्वानों को तो यह मिथ्या सहृदयत्व की भावना नहीं दिखाई पड़ती। अतः ध्वनि केवल प्रवाद मात्र है और उसका विचार योग्य तत्त्व कुछ भी नहीं बताया जा सकता है।"[1]

मनोरथ कवि ने भी इसी प्रवाद मात्रत्व की ओर संकेत करते हुए कहा है कि जिसमें अलंकार युक्त मन को प्रसन्न करने वाला कोई वर्णनीय अर्थ तत्त्व नहीं है, जो चातुर्य युक्त सुन्दर शब्दों में विरचित नहीं है जो सुन्दर युक्तियों से शून्य है, उसका यह ध्वनि युक्त काव्य है ऐसा कह कर प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करने वाला मूर्ख, किसी बुद्धिमान के पूछने पर मालूम नहीं ध्वनि का क्या स्वरूप बतायेगा ?[2]

अभाववादी के प्रथम विकल्प का खण्डन—(१) इस मत में 'शब्दार्थ शरीरं काव्यम्' कहा गया है। शब्दार्थ में शब्द शरीर के स्थूलत्वादि के समान स्थूल है। अतः सर्वजन संवेद्य है परन्तु वाच्यार्थ तो सहृदय संवेद्य होता है। उससे भिन्न अर्थ भी व्युत्पन्न पुरुषों को ही प्रतीत होता है। यदि शब्द शरीर स्थानीय है, तो अर्थ को आत्मा स्थानीय ही मानना पड़ेगा और सहृदय श्लाघ्य अर्थ ही काव्यात्मा है सभी अर्थ नहीं। अतः जो अर्थ प्रतीयमान है, उसे ही काव्यात्मा कहेंगे।

(२) वाच्य अर्थ काव्य की आत्मा नहीं है और यही वाच्यार्थ उपमादि से व्यक्त कियागया है। अभाववादी इन्हीं उपमादि में ध्वनि का अन्तर्भाव मानते हैं परन्तु अलंकारादि वाच्यार्थ है और ध्वनि प्रतीयमान अर्थ है। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार, गुण, वृत्ति में किया जा सकता है।

(३) 'ध्वन्यालोक' की कारिका दो में वाच्य प्रतीयमानाख्यौ में द्वन्द्व समास का प्रयोग है। "उभय पदार्थ प्रधानो द्वन्द्वः" अर्थात् द्वन्द्व समास में

---

१ ध्वन्यालोक १ ला उद्योत पृ० १०

२ यस्मिन्नास्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति ।
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्ति शून्यं च यत् ।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो ।
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वने ॥ मनोरथ

उभय पदार्थ की प्रधानता रहती है। दोनों की प्रधानता होने के कारण वाच्य या प्रतीयमान किसी पदार्थ का अर्थ ह्रस्व नहीं किया जा सकता है फिर भी दोनों के अर्थों में स्पष्ट भेद है। यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त वस्तु मात्र अलंकार और रसादि भे. से अनेक प्रकार का होता है, परन्तु इस प्रतीयमान अर्थ की सत्ता ही अलग होती है जो वाच्य से भिन्न है। इसके अतिरिक्त भी निम्नलिखित उक्तियों से दोनों की भिन्न सत्ता का भान होता है—

(१) उस प्रतीयमान अर्थ को प्रभावित करने वाली महाकवियों की वाणी उनके अलौकिक प्रतिभासमान प्रतिभा विशेष को व्यक्त करती है। इसी से कालीदास जैसे दो चार कवि ही हैं।

(२) वह अर्थ शब्द शास्त्र और अर्थशास्त्र (कोश) के ज्ञान से ही प्रतीत नहीं होता वह तो केवल काव्यज्ञ को ही प्रतीत होता है। यदि वह केवल वाच्य अर्थ होता तो शब्द और अर्थ के ज्ञान से उसकी भी प्रतीति हो जाती।

(३) वाच्यार्थ का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ की अनुभूति में उसी प्रकार साधन मात्र है जैसे आलोकार्थी के लिये दीपक का ग्रहण। वाच्यार्थ केवल उपायभूत है प्रधानता तो व्यंग्य अर्थ की ही है।

(४) जैसे पदार्थों के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार उसी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के ज्ञानपूर्वक होती है। अतः वाच्य अर्थ साधन मात्र होने से अप्रधान है।

(५) अलंकार का भेद ऐसा है जो कभी अन्य किसी अलंकार्य रसादि का शोभादायक होने से उपमादि अलंकार के रूप में भी व्यवहृत होता है। ऐसे ही रूप में यह प्रतीयमान अर्थ उससे भिन्न होगा, परन्तु जहाँ वह वाच्य नहीं है अपि तु वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त मात्र है वहाँ यह किसी दूसरे का अलंकार नहीं, अपि तु स्वयं प्रधानभूत अलंकार्य है। इसी से उस पूर्वावस्था के कारण अलंकार ध्वनि कहते हैं। यह अलंकार ध्वनि प्रतीयमान का एक लौकिक भेद है और जो अलंकार वस्तुमात्र है तथा प्रतीयमान है उसे वस्तु ध्वनि कहते हैं। इस वस्तु ध्वनि में भी वाच्य और प्रतीयमान अर्थ का स्पष्ट अंतर दीख पड़ता है। यह अंतर निम्नलिखित रूप में दीख पड़ता है—

(१) कहीं पर वाच्य अर्थ विधि रूप और प्रतीयमान अर्थ निषेध रूप होता है। इसका उदाहरण 'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध ' है।

(२) वाच्यार्थ प्रतिषेध रूप और प्रतीयमान अर्थ विधि रूप होता है। जैसे 'स्वश्रू रत्र निमज्जति ' ।

(३) वाच्याथ विधि रूप और प्रतीयमान अनुभयात्मक होता है। 'व्रजममैवैकस्या भव तु ।

(४) वाच्याथ प्रतिपेध रूप और प्रतीयमान अनुभय रूप होता है। "प्रार्थये तावत ।"

( ) वाच्य और व्यग्य अथ का विषय भेद भी होता है अर्थात् वाच्य का विषय अन्य और प्रतीयमान का विषय दूसरा होता है "कस्य वा न भवति रोष " वाला श्लोक इसका उदाहरण है।

उपयु क्त सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि वाच्याथ, जो उपमादि अलकारों के रूप में प्रसिद्ध है, तथा प्रतीयमानाथ ध्वनि के भेद वस्तु ध्वनि से भिन्न होते हैं। इससे दोनों का ही अस्तित्व अलग अलग है। अत स्वतन्त्र अस्तित्व के कारण अलकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव सम्भव नही है। इस प्रकार अभाव वादियों के प्रथम विकल्प का खण्डन हो जाता है।

ध्वनि का दूसरा भेद अलकार ध्वनि भी वाच्याथ से भिन्न ही है। अत वाच्याथ और व्यग्याथ दोनों एक नहीं हो सकते हैं।

रसध्वनि भी वाच्याथ से भिन्न है यद्यपि यह वाच्य के सामथ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है। इसी से यह अलौकिक भेद है। रसध्वनि शब्द के साक्षात व्यापार (अभिधा, लक्षणा तात्पर्या) का विषय नही है। यदि इन व्यापारों द्वारा इसे वाच्य माने, तो यह वाच्यता दो प्रकार से सम्भव हो सकती है—

(१) स्वशब्द द्वारा (२) विभावादि के प्रतिपादन द्वारा।

इन दोनों में स्वशब्द द्वारा रसध्वनि के निवेदित न होने पर नहीं होना चाहिए। व्यवहार मे देखा जाता है कि रसादि का प्रतिपादन स्वशब्द द्वारा नहीं होता है जहाँ स्वशब्द द्वारा प्रतिपादन होता भी है वहाँ विभावादि के माध्यम द्वारा ही यह सम्भव होता है। रस शब्द के प्रयोग से रस जन्य नही होता, केवल अनुमित होता है। जहाँ विभावादि नहीं हैं वहाँ स्वशब्द वाच्य रस में रसवत्ता नही रहती। अत अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा भी स्पष्ट है कि रसादि कभी भी वाच्य नही होते, अपि तु वाच्य सामथ्य से आक्षिप्त होते हैं। अत ध्वनि का यह तीसरा भेद (रसादि ध्वनि) वाच्य से भिन्न ही है।

इस प्रतीयमान अथ को गुणों अलकारों और वृत्तियों आदि में अन्तभू त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे वाच्य अथ हैं। इस प्रकार ध्वनि अगी और अलकारादि अग हो जाते हैं। उपमादि जहाँ प्रतीयमान अथ या व्यग्य होते हैं,

यहाँ वे अलकार न रहकर अलकार्य हो जाते हैं। गुणों और वृत्तियों का अन्तर्भाव रसो मे ही किया जाता है। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि ध्वनि स्वरूपगत (शब्द एव अर्थगत, तथा सघटनागत चारुत्व (माधुर्यादि) की सीमा में नही आ सकता है, अपितु उससे अधिक विस्तृत होने से इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। ध्वनि की सत्ता न मानने वाले अभाववादियों ने जो विरोध उपस्थित किया है उसका निराकरण प्रतीयमान रूप अर्थ की सिद्धि से हो जाता है। अत ध्वनि का अस्तित्व है और उसका अन्तर्भाव वाच्यार्थ मे नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ जैसे पदार्थ अपनी सामर्थ्य से वाक्यार्थ को प्रकाशित करते हुए वाक्यार्थ बोध व्यापार के पूर्ण हो जाने पर अलग प्रतीत नही होता, उसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख सहृदय की तरह दर्शन समय बुद्धि मे यह अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यंग्यार्थ की सत्ता तथा प्राधान्य का प्रतिपादन किया गया। ध्वनि का स्वरूप निर्धारित करते हुए भी बताया गया है कि जहाँ अर्थ वाच्य विशेष अथवा वाचक विशेष शब्द उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को ध्वनि कहा जाता जाता है। इस प्रकार वाच्य वाचक के चारुत्व हेतु उपमादि से अलग ध्वनि का विषय दिखाया गया और अभाववादियों के प्रथम विकल्प का निराकरण किया गया।

अभाववादियों के दूसरे विकल्प का निराकरण — इस विकल्प मे विरोधियों ने परम्परा की दुहाई दी है कि 'प्रसिद्ध प्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य काव्यत्व हानेर्ध्वनिर्नास्ति।' अर्थात् प्रसिद्ध मार्ग का अतिक्रमण करने वाले मार्ग मे कवित्व की हानि होगी इससे ध्वनि नही है।' परन्तु यह विचार ठीक नही है क्योंकि यह तो केवल लक्षणकारों मे ही प्रसिद्ध नहीं, परन्तु लक्ष्य ग्रन्थो के अध्ययन से विदित है कि सहृदयों के हृदयों को भी आल्हादित करने वाले काव्यों का सारभूत वही ध्वनि है इससे भिन्न काव्य, चित्र-काव्य कहा जाएगा।

अभाववादियों का तीसरा विकल्प — इसमें कहा गया है कि यह ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नही करती तो उक्त गुणालकारादि चारुत्व हेतुओं मे ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित मार्ग के अन्दर व्यंग्य व्यंजक भाव पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? वाच्य वाचक (शब्द और अर्थ) के चारुत्व हेतु उपमादि तथा अनुप्रासादि अलकार तो उस ध्वनि के अग रूप हैं

और ध्वनि अगी है। अत ध्वनि के व्यग्य व्यजक भाव मूलक होने से वाच्य वाचक चारुत्व हतुओ मे अतर्भाव सम्भव नही है। कहा भी है कि —

ध्यग्य व्यञ्जकसम्ब धनिव धनतया ध्वने ।
वाच्य वाचक चारुत्व हेत्व त पतिता कुत ॥

अभाववादियों का दूसरा तक — पूव पक्षियो का एक दूसरा तक यह है कि यदि प्रतीयमान अथ की प्रतीति स्पष्ट रूप से नही होती तो वहाँ ध्वनि के न मानने से कोई हानि नही है, परन्तु जहाँ उसकी प्रतीति होती है, जसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, शकर आदि म, वहा ध्वनि का अन्तर्भाव इन चारुत्व हेतु अलकारो मे तो अवश्य हो जाएगा।

समाधान — ध्वनि का स्वरूप निर्धारित करते हुए ध्वनिकार ने कहा है कि जहाँ शब्द अपने अथ को या अथ अपने अथ को गौण करके काव्य विशेष को व्यञ्जित करता है, वही ध्वनि होती है। इससे इन अलकारो म ध्वनि का अन्तर्भाव कसे होगा ? दूसरा समाधान यह है कि ध्वनि वही होती है, जहाँ व्यग्याथ की प्रधानता हो और समासोक्ति आदि अलकारो में व्यग्याथ की प्रधानता नही होती। इन स्थानो पर व्यग्य की प्रतीति होने पर भी काव्य का ही चारुत्व अधिक होने से वाच्य की प्रधानता विवक्षित होती है। पर्यायोक्त अलकार म यदि व्यग्य की प्रधानता हो तो ध्वनि के महाविषय होने स उसमे रस अलङ्कार आदि का अन्तर्भाव हो जायगा, परन्तु आचाय भामह ने 'गृहेष्वध्वसु " आदि पर्यायोक्त का उदाहरण अपने ग्रथ म दिया है उसम तो व्यग्य का प्राधान्य है ही नही। अपह्नुति और दीपक में वाच्य का प्राधान्य और व्यग्य का वाच्यानुगामित्व प्रसिद्ध ही है। दीपक मे उपमा की प्रतीति होने पर भी अप्रधान होने के कारण वहाँ उपमा का व्यवहार नही होता। शकरालकार मे अङ्गाङ्गि भाव और सदेह शकर मे व्यग्य की सम्भावना का निराकरण कर देता है। यह शब्द उसकी सकीणता का बोधक है। अप्रस्तुत प्रशसा के सादृश्यमूलक भेद में यदि अभिधीयमान अप्रस्तुत का अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुत का प्राधान्य विवक्षित हो तो अलकार या ध्वनि मे अन्तर्भाव हो जायगा। अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राधान्य विवक्षित होने पर अप्रस्तुत प्रशसालकार होगा।

उपयुक्त विचार स स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ वाच्य का अनुगमन करने वाले व्यग्य का अप्राधान्य है, वहाँ समासोक्ति आदि अलकार स्पष्ट रूप से वाच्य हैं, परन्तु जहाँ व्यग्य की प्रतीति मात्र होती है, या वह वाच्यानुगामी पुच्छभूत होता है अथवा जहाँ उसका स्पष्ट प्राधान्य नहीं है, वहाँ

ध्वनि नही होती। इसके विपरीत जहाँ शब्द और अर्थ व्यग्य बोधन के लिए ही तत्पर है वहा ही सकर रहित ध्वनि का विषय समझना चाहिए। अत ध्वनि का अ यत्र (अलकारादि) म अ तर्भाव नही हो सकता है। अलकार गुण, वृत्तियाँ आदि ध्वनि के अग हैं। इसलिए भी अगीभूत व्यग्यप्रधान वाच्य विशष का उसमे अ तर्भाव नही हो सकता है। ध्वनिकार न प्रथम कारिका म 'सूरिभि कथित' क प्रयोग द्वारा भी यह सिद्ध करना चाहा है कि यह मत विद्वन्मतमलक है। यो ही अप्रमाणिक रूप से प्रचलित नही कर दिया है, इसका प्रयोग वयाकरणो न किया है और याकरण सभी विद्याओ का मूल है। इनके अनुसार सुनाई पडने वाले वर्णों को ध्वनि कहा गया है। अत सिद्ध है कि ध्वनि का अस्तित्व है और ध्वनि विरोधी अभाव वादियो के तीनो ही मतों (१– 'तदलकारादि व्यतिरिक्त कोऽयध्वनिर्नाम। २–तत्समया त पातिन सहृदयन् कांश्चित्परिकल्प्यतत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्य व्यपदेश परिवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मना प्राहितामवलम्बते। ३–तेषाम यत मस्यव वा पूव समाख्या मात्र करणे यत्किचन कथन स्यात्।') का निराकरण हो जाता है।

ध्वनि विरोधी भाक्तवादी दूसरा वग—पूर्वपक्षियो का यह दूसरा वग है। इस मत के निराकरण के पूव भाक्त श द का अथ स्पष्ट हो जाना चाहिए। आन दवद्ध न ने 'उपचारमात्र तु भक्ति' कहा है। इसका अथ गौण प्रयोग है अर्थात् जो शब्द जिस अथ म सकेतित है उस अथ को छोडकर उससे सम्बद्ध अ य अथ को बोध कराना उपचार कहा जाता है। ध्वनि क स्वरूप निर्धारण प्रसग पर भी कहा गया है कि वाच्याथ से भिन्न अथ को वाच्य वाचक द्वारा तात्पय रूप से व्यग्य का प्राधान्य होते हुए जहाँ प्रकाशित किया जाता है उस ध्वनि कहते हैं 'वाच्य व्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्या तात्पर्येण प्रकाशन यत्र व्यग्य प्राधान्ये स ध्वनि।' इन दोनों शब्दो के स्पष्टीकरण के उपरा त ध्वनि को लक्षणागम्य या भाक्त मानने के सम्ब ध मे इस मत के निराकरण हेतु भाक्तवादी क निम्नलिखित तीन विकल्प हो सकते हैं—

(१) भक्ति ही ध्वनि है।
(२) भक्ति ही ध्वनि का लक्षण है।
(३) भक्ति ध्वनि का उपलक्षण है।

प्रथम विकल्प और उसका निराकरण—ध्वनि को भक्ति मानने वाले भामह, उद्भटादि हैं। भामह ने काव्यालकार म ध्वनि का अभिधा पक्ष स उद्भट ने विवरण मे गुणवृत्ति शब्द स तथा वामन न सादृश्यात् लक्षणात् वक्रोक्ति मे

लक्ष । शब्द ध्वनि मार्ग का स्पर्श किया है, फिर भी स्पष्ट लक्षण नहीं बन सका है। इस वर्ग वाले इन्हीं मार्ग का अवलम्ब लेकर 'भक्ति' को ही ध्वनि मानते हैं।

खण्डन—यहाँ पूर्व पक्षी के इस मत के स्पष्टीकरण के लिये यह प्रश्न उठता है कि पूर्वपक्षी ध्वनि और भक्ति को पर्याय के रूप मे ग्रहण करता है अथवा किसी अन्य रूप मे। यदि पर्याय के रूप मे मानता है तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि इन दोनो के स्वरूप मे स्पष्ट अन्तर ऊपर बताया जा चुका है। संकेतित अर्थ को छोड़कर तत्सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध उपचार (भक्ति) है और व्यंग्यार्थ की प्रधानता मे ध्वनि का अस्तित्व होता है। व्यंग्य अर्थ में प्रतीयमान अर्थ संकेतित अर्थ के साथ उपचार की भाँति उससे सम्बद्ध ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है। इससे 'भक्ति' और ध्वनि एक नहीं हो सकते। ध्वन्यालोक मे भी इसका समर्थन किया गया है कि 'रूप भेद के कारण यह ध्वनि भक्ति से एकत्व को धारण नहीं कर पाती है।'[1]

भाक्तवादी दूसरा विकल्प—इसमें 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण माना गया है। 'लक्षण तु असाधारण धर्मवचनम्' अर्थात समान एवं असमान जातीय पदार्थों के भेद कराने वाले असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं जैसे पृथ्वी का लक्षण गन्धवत्व है जो अपने समान जातीय द्रव्य अप, तेज वायु प्रदान आकाश, दिक्, आत्मा, मन आदि वशेषिक में कहे गये पृथ्वी सहित नौ द्रव्य) के लक्षण से भिन्न है। जलादि म प्राप्त गन्धत्व उसके पार्थिव अंश के ही कारण है। वेदान्त का पचीकरण प्रसंग इस बात का समर्थन करता है। पृथ्वी के असमान जातीय द्रव्य गुण कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि वशेषिक दर्शन में माने गये हैं। इनमे भी गन्धत्व न होने से इसे पृथ्वी का असाधारण धर्म माना गया है। यही गन्धत्व पृथ्वी का विशेष लक्षण है। लक्षण का अर्थ ही समानासमान जातीय से भेद करना ही है "समानासमान जातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थ । अतः यदि 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण मानें, तो जहाँ-जहाँ भक्ति होगी वहा वहा ध्वनि की उपस्थिति अनिवार्य होगी, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है इससे भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते।

भाक्तवादियो के इस पक्ष को मानने पर अन्य दोष भी दीख पड़ते हैं।

१ अतिव्याप्ति दोष—अलक्ष्य मे लक्षण का चला जाना।

२ अव्याप्ति दोष—लक्षण का लक्ष्य मे न पहुँचना।

---

१ भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः । ध्वन्यालोक १/१४

इन दोनों भेदों पर क्रमश: विचार किया जायगा। आनन्दवर्द्धन ने भी इसी को ध्यान में रखते हुए कहा है कि "अति व्याप्तिरथाव्याप्तिन चासौ लक्ष्यते तया।"[1]

अतिव्याप्ति वाला पक्ष—यदि 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है तो दोनों सदा साथ साथ रहना चाहिए और समानासमान किसी दूसरे पदार्थ में यह गुण नहीं होना चाहिए, परन्तु ध्वनि से भिन्न विषय में भी भक्ति होती है। प्राय देखा जाता है कि जहाँ व्यंग्य के कारण विशेष सौंदर्य नहीं होता, वहाँ भी कभी प्रसिद्धिवश उपचार या गौणी वृत्ति से व्यवहार होता है। इसी बात को ध्वन्यालोककार ने कई श्लोकों "१ परिम्लानम् पीनस्तन , ' 'चुम्बते शतकृत्वो ," "कुपित प्रसन्ना " "आर्यायां प्रहारो " 'परार्थे पीडामनुभवति " द्वारा स्पष्ट किया है। यहाँ व्यंग्य प्राधान्य ध्वनि के न होने पर भी 'वदति पुनरुक्त, गृहीता, हरति दस और अनुभवति' पदों द्वारा लक्षणारूप भक्ति का आश्रय लिया गया है। परन्तु इन स्थानों पर ध्वनि का अवसर न होने पर यहाँ अतिव्याप्ति दोष है। इसमें भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं। उपर्युक्त सभी स्थानों पर लक्षणा होते हुए भी ध्वनि नहीं है, इससे भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं। इसमें दूसरा भेद यह है कि यदि उपर्युक्त वदति हरति आदि के स्थान पर इन शब्दों का पर्याय रख दें, तो इनमें कोई अचारुत्व नहीं आयगा और लक्षणा के इन प्रयोगों में चारुता की वृद्धि भी नहीं होती है। इसके विपरीत ध्वनि में जहाँ उक्त्यन्तर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता है उसको प्रकाशित करने वाला व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी है।[2] उपर्युक्त उदाहरणों में दूसरे शब्दों की उक्ति से चारुत्व का प्रकाशन होने में कोई अवरोध नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं।

(ख) बहुत से शब्द अपने एक विशेष अर्थ में रूढ हो जाते हैं। उदाहरणार्थ लावण्य शब्द अपने विषय लवणयुक्तत्व से भिन्न सौन्दर्यादि अर्थ में रूढ अर्थात् प्रसिद्ध हो जाता है। ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि का

---

१ ध्वन्यालोक १/१४

२ उक्त्यन्तेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयो भवेत्।
ध्वन्यालोक १/१५

विषय नही होते। इन शब्दो म उच्चरित गौण शब्द वृत्ति तो हैं, पर तु ध्वनि नही है। इस प्रकार के अ य उदाहरणों म यदि कहीं ध्वनि व्यवहार सम्भव भी हो, तो इस प्रकार के लावण्यादि से न होकर प्रकारान्तर से होगा। यह शब्द सु दर अथ में प्रयुक्त होने लगा है, जो इसका मुख्याथ नही ह। प्रयोग बहुलता से ही ऐसा सम्भव हो सका ह। यह रुढ़ि लक्षणा का उदाहरण ह। इसमे भक्ति तो ह पर तु व्यग्य का अभाव होने से व्यग्य प्राधा य रूप ध्वनि नहा ह। इसी का समथन ध्वनिकार ने किया ह कि "रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दा स्वविषयादपि। लावण्याद्या प्रयुक्तास्ते न भव ति पद ध्वन ।"

(ग) लक्षणा के दो भेद रूढ़ि और प्रयोजन म से रूढ़ि मे तो भक्ति लक्षणा रहती ह पर तु प्रयोजन रूप व्यग्य या ध्वनि नही रहती। प्रयोजन वाले भेद मे प्रयोजन व्यग्य होता ह पर तु यह प्रयोजन लक्षणागम्य न होकर व्यञ्जना गम्य होता ह। इस दृष्टि से भी भक्ति ध्वनि का लक्षण नहा हो सकती।

(घ) चौथा तर्क यह ह कि जिस फल (शत्य पावनत्वादि) को लक्ष्य म रखकर मुख्यवृत्ति (अभिधा) छोडकर गुण वृत्ति लक्षणा द्वारा ही अथ बोध कराया जाता ह उस फल का बोधन करने म शब्द बाधित अथ (स्खलद्गति) नही है। यदि उस चारुत्वातिशय को प्रकाशित करने मे शब्द गौण (बाधिताथ) हो तो उस शब्द का प्रयोग दूषित माना जायगा। शत्य पावनत्व का बोध कराना लक्षणा का प्रयोजन है, यह प्रयोजन व्यञ्जना गम्य है लक्षणा गम्य नहीं। लक्ष्याथ के लिये मुख्याथ का प्रस्तुत होना और उसका बाध होना यह दोनों ही आवश्यक हैं। यदि शत्य पावनत्व को ही लक्ष्य मानें, तो उससे पूव उपस्थित तट रूप अथ को मुख्याथ मानना और पुन तात्पर्यानुपपत्ति और अ वयानुपपत्ति बाध (शब्द का स्खलद्गति) का मानना आवश्यक है, पर तु शत्यादि के बोध के पूव उपस्थित होन वाला तट रूप अथ न तो गगा शब्द का अथ ही है और न बाधित (स्खलद्गति) ही है क्योंकि दिये गये उदाहरण गगाया घोष में घोष के साथ आधार आधेय मानने म बाधा भी नहीं है। *अत सिद्ध है कि भक्ति और ध्वनि मे अ तर है।*

दूसरी बात यह है कि लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार म विषय का भेद है। इस भेद के कारण दोनों म धम धर्मिभाव नहीं हो सकता है। धर्मिगत कोई धम विशेष ही लक्षण होता है। ध्वनि और भक्ति म धम धर्मिभाव न होने से भी 'भक्ति ध्वनि का लक्षण नहा हो सकता।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लक्षणा वाचकाश्रित अभिधापुच्छभूता है। वह विषय भेद होने से व्यञ्जना मात्राश्रित ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। विषयता सम्बन्ध से भक्ति का अधिकरण शोर और ध्वनि का शत्य पावनत्व है। अत एव विषय घटित स्वविषय विषयत्व रूप परम्परा सम्बन्धेन भक्ति के व्यवृत्ति होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती इससे सिद्ध होता है कि वाचकाश्रित होने वाली गुणवृत्ति भक्ति केवल व्यञ्जनामूलक ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। कहा भी है — वाचकत्वाश्रयणेव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्यात्लक्षणं कथम्"

भाक्तवादियों का अव्याप्तिवाला दोष—यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानें, तो उसमें अव्याप्ति दोष भी होगा। जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में न रहे, उसे अव्याप्ति दोष भी कहते हैं। इसके समझने के लिए ध्वनि के दो भेद अविवक्षित वाच्यध्वनि और विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि (अभिधामूला ध्वनि) पर ध्यान रखना चाहिए। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानें, तो इन दोनों भेदों में भक्ति का अस्तित्व अपेक्षित है परन्तु अभिधामूला ध्वनि तथा ध्वनि के अन्य भेदों में भक्ति या लक्षणा व्याप्त नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि ध्वनि के इन अंगों में ध्वनि तो है पर लक्षणा नहीं। इससे भक्ति या लक्षणा को ध्वनि का लक्षण नहीं कहेंगे। ध्वनि के अभिधामूला भेद में असंलक्ष्य क्रम और संलक्ष्यक्रम भेदों में रसादिध्वनि ही मुख्य है। इसमें मुख्यार्थ बाध का अवसर न होने से भक्ति की अव्याप्ति हो जाती है। इसी प्रकार इस ध्वनि के भेदों (रसाभास भाव भावाभासादि) में भी मुख्यार्थ बाधादि के बिना ही रसादि की प्रतीति होने से भक्ति के प्रवेश का अवसर नहीं है इस दृष्टि से भी अव्याप्ति के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं।

भाक्तवादी का तृतीय विकल्प—भाक्तवादी मत में भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानते हैं। अवर्तमान व्यावर्तक धर्म को उपलक्षण कहते हैं। जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' वाक्य में काकवत्त्व देवदत्त के घर का लक्षण या विशेषण नहीं है अपितु उपलक्षण है। अन्य गृहों से भेद बताने के लिए ही अतीत काल में [illegible] घर पर काक को देखकर अवर्तमान इस समय के गृह का वि[illegible] [illegible]क्या जा रहा है। यदि भक्ति को ध्वनि का [illegible] मानें, तो [illegible] प्रभेद वाले [illegible] विषय भेद

का (काक्वद देवदत्तस्य गृहम्) के समान अविद्यमान व्यावर्तक उपलक्षण हो सकती है । ऐसा कहा जाने पर यह भी ही ठीक मानना चाहिए कि अभिधा व्यापार से ही समग्र अलकार वग भी लक्षित हो सकता है, तो वयाकरणो या मीमासको द्वारा अभिधा का लक्षण कर देने पर और उसके द्वारा समस्त अलकारो के लक्षित हो जाने से अलग-अलग अलकारों का लक्षण करना व्यथ ही है । ध्वनि का अस्तित्व तो प्राचीन लोगो ने भी स्वीकार किया है । अत ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका म ध्वनि के लिए जो 'भावतमाहुस्त न्ये' कहा गया है, उसका अब तक पूण रूप से निराकरण किया गया तथा भक्ति न तो ध्वनि का लक्षण है और न ही उपलक्षण है । ध्वनि विरोधी तृतीय पक्ष अलक्षणीयता वादी आनन्द वद्धन ने ध्वनि विरोधी जिन तीन पक्षो की कल्पना की है, उनमे तृतीय अलक्षणीयता वादी पक्ष सम्भावित पक्ष है । इसका *निर्देश परोक्ष लिट लकार 'ऊच" के प्रयोग द्वारा किया गया है ।* इस पक्ष वाले ध्वनि का अनुभव तो करते हैं पर तु उसकी व्याख्या को असम्भव बताते हैं । ध्वनिकार ने इसी स कचिद् वाचा स्थितमविषये तत्वमुचुस्तदाय" का प्रयोग किया है । स्पष्ट है कि इस पक्ष वाले ध्वनि को सहृदय सवद्य मानते हुए भी उसे वाणी के लिए अग पर मानते है । ध्वनिकार ने इनको लक्षण करने म अप्रगल्भ कहा है "कचित् पुनर्लक्षणकरणाशालीन बुद्धयाध्वनेस्तत्व गिरामगो चरम सहृदय हृदय सवद्यमव समाख्यातव त ।" अथात् लक्षण निर्माण मे अप्रगल्भ बुद्धि कि ही तीसर प्रकार क व्यक्ति न ध्वनि के तत्व का कवल सहृदय हृदय सवद्य और वाणी क पर अथात् अलक्षणीय अनिवचनीय कहा ह । उनक मत से 'ध्वनि न शक्यते वणयितु गिरा तदा स्वय तदन्त करणेन गृह्यत' के समान ह ।

इस मत म ध्वनि के अस्तित्व मे विश्वास क कारण यह एक सम्भावित पक्ष ह । इस कल्पना या सम्भावना का आधार भरत का नाट्यशास्त्र, भामह का काव्यालकार, उद्भट का भामह विवरण वामन का काव्यालकार सूत्र और रुद्रट का काव्यालकार ह । यह पक्ष अज्ञान मूलक होने के कारण अभाववादी और भाक्तवादी की तुलना म कम दूषित ह । इसम ध्वनि का न तो स्पष्ट निषेध ही ह और न उसका अपह्नव ही किया गया ह । इनके विचार म जब प्राचीन आचाय ध्वनि मार्ग का स्पश मात्र करके छोड गये हैं तो भला अन्य लोग इसका लक्षण कसे कर सकते हैं। इसी से इसे "ध्वनेस्तत्व गिरामगो चर सहृदय हृदय सवेद्यमेव समाख्यातवन्त " कहा गया ह ।

समाधान—इस मत का खण्डन ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के प्रथम

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लक्षणा वाचकाश्रित अभिधापुच्छभूता है। वह विषय भेद होने से व्यञ्जना मात्राश्रित ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। विषयता सम्बन्ध से भक्ति का अधिकरण शोर और ध्वनि का शब्द पावनत्व है। अत एक विषय घटित स्वविषय विषयत्व रूप परम्परा सम्बन्धेन भक्ति के व्यवृत्ति होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती इससे सिद्ध होता है कि वाचकाश्रित होने वाली गुणवृत्ति भक्ति केवल व्यञ्जनामूलक ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। कहा भी है — 'वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। व्यञ्जकत्वैक मूलस्य ध्वने स्याल्लक्षण कथम्"[1]

भाक्तवादियों का अव्याप्तिवाला दोष—यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानें, तो उसमें अव्याप्ति दोष भी होगा। जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में न रहे उसे अव्याप्ति दोष भी कहते हैं। इसके समझने के लिए ध्वनि के दो भेद अविवक्षित वाच्यध्वनि और विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि (अभिधामूला ध्वनि) पर ध्यान रखना चाहिए। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानें, तो इन दोनों भेदों में भक्ति का अस्तित्व अपेक्षित है परन्तु अभिधामूला ध्वनि तथा ध्वनि के अन्य भेदों में भक्ति या लक्षणा प्राप्त नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि ध्वनि के इन भेदों में ध्वनि तो है पर लक्षणा नहीं। इससे भक्ति या लक्षणा को ध्वनि का लक्षण नहीं कहते। ध्वनि के अभिधामूला भेद में असंलक्ष्य क्रम और संलक्ष्यक्रम भेदों में रसादिध्वनि ही मुख्य है। इसमें मुख्यार्थ बाध का अवसर न होने से भक्ति की अव्याप्ति हो जाती है। इसी प्रकार इस ध्वनि के भेदों (रसाभास भाव भावाभासादि) में भी मुख्यार्थ बाधादि के बिना ही रसादि की प्रतीति होने में भक्ति के प्रवेश का अवसर नहीं है इस दृष्टि से भी अव्याप्ति के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं।

भाक्तवादी का तृतीय विकल्प—भाक्तवादी मत में भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानते हैं। अवर्तमान व्यावर्तक धर्म को उपलक्षण कहते हैं। जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' वाक्य में काकवत्त्व देवदत्त के घर का लक्षण या विशेषण नहीं है अपितु उपलक्षण है। अन्य गृहों से भेद बताने के लिए ही अतीत काल में कभी देवदत्त के घर पर काक को देखकर अवर्तमान इस समय उसके गृह का विभेद अन्य गृहों से किया जा रहा है। यदि भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानें, तो यह भक्ति वक्ष्यमाण प्रभेद वाले ध्वनि के किसी विशेष भेद

---

१ ध्वन्यालोक १/१८

का (काकवद देवदत्तस्य गृहम्) के समान अविद्यमान व्यावर्तक उपलक्षण हो सकती है । ऐसा कहा जाने पर यह भी ही ठीक मानना चाहिए कि अभिधा व्यापार से ही समग्र अलंकार वर्ग भी लक्षित हो सकता है, तो वैयाकरणों या मीमांसकों द्वारा अभिधा का लक्षण कर देने पर और उसके द्वारा समस्त अलंकारों के लक्षित हो जाने से अलग-अलग अलंकारों का लक्षण करना व्यर्थ ही है। ध्वनि का अस्तित्व तो प्राचीन लोगों ने भी स्वीकार किया है। अतः ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ध्वनि के लिए जो 'भाक्तमाहुस्त दन्ये' कहा गया है, उसका अब तक पूर्ण रूप से निराकरण किया गया तथा भक्ति न तो ध्वनि का लक्षण है और न ही उपलक्षण है। ध्वनि विरोधी तृतीय पक्ष अलक्षणीयता वादी आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि विरोधी जिन तीन पक्षों की कल्पना की है, उनमें तृतीय अलक्षणीयता वादी पक्ष सम्भावित पक्ष है। इसका निर्देश परोक्ष लिट् लकार 'ऊचु' के प्रयोग द्वारा किया गया है । इस पक्ष वाले ध्वनि का अनुभव तो करते हैं परन्तु उसकी व्याख्या को असम्भव बताते हैं। ध्वनिकार ने इसी से 'केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं'' का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि इस पक्ष वाले ध्वनि को सहृदय संवेद्य मानते हुए भी उसे वाणी के लिए अगोचर मानते हैं। ध्वनिकार ने इनको लक्षण करने में अप्रगल्भ कहा है ''कश्चित् पुनर्लक्षणकरणशालीन बुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरम् सहृदय-हृदय संवेद्यमेव समाख्यातवन्त ।' अर्थात् लक्षण निर्माण में अप्रगल्भ बुद्धि किन्हीं तीसरे प्रकार के वादी ने ध्वनि के तत्त्व को केवल सहृदय हृदय संवेद्य और वाणी के परे अर्थात् अलक्षणीय अनिर्वचनीय कहा है। उनके मत से 'ध्वनि न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन प्रतीयते' के समान है।

इस मत में ध्वनि के अस्तित्व में विश्वास के कारण यह एक सम्भावित पक्ष है। इस कल्पना या सम्भावना का आधार भरत का नाट्यशास्त्र भामह का काव्यालंकार उद्भट का भामह विवरण, वामन का काव्यालंकार सूत्र और रुद्रट का काव्यालंकार है। यह पक्ष अनन्त मूल्य होने के कारण अभाववादी और भाक्तवादी की तुलना में कम दूषित है। इसमें ध्वनि का न तो स्पष्ट निषेध ही है और न उसका अपह्नव ही किया गया है। इनके विचार में जब प्राचीन आचार्य ध्वनि नाम का स्पर्श मात्र करके छोड़ गये हैं तो भला अन्य लोग इसका लक्षण कैसे कर सकते हैं। इसी से इसे "ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदय हृदय संवेद्यमेव समाख्यातवन्त" कहा गया है।

समाधान—इस मत का खण्डन ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के प्रथम

उद्योत मे अ त मे किया ह कि यदि अ य लोगो ने इस ध्वनि का लक्षण भी कर दिया तो इससे हमारे ही मत की सिद्धि हो जाती ह क्योंकि ध्वनि का अस्तित्व तो ध्वनिकार भी सिद्ध करना चाहता ह और इस विरोधी पक्ष भी स्वीकार कर लेता ह। इस ध्वनि के लक्षण को ध्वनिकार ने बताया ह कि यह ध्वनि प्रतिपादन परम्परागत विद्वन्मतमूलक ह। यों ही अप्रामाणिक स्वकल्पित रूप म इसे प्रचलित नहीं किया गया ह। प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं और व्याकरण सभी विद्याओं का मूल ह। वैयाकरण सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं। इसी प्रकार इनके मत को मानने वाले काव्यतत्त्वदर्शी अन्य विद्वानों ने भी वाच्य वाचकव्यंग्यार्थ, व्यापार और काव्य पद से व्यवहार्य इन पाचो को ध्वनि कहा ह।[1] अत स्पष्ट ह कि इसका लक्षण पहले से किया जा रहा ह अत अलक्षणीयता का दोषारोपण निराधार सिद्ध हो जाता ह।

ध्वनि के विभिन्न अर्थ और लक्षण—ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से हो सकती है। 'ध्वनतीति ध्वनि' इस व्युत्पत्ति से वाच्यार्थ और वाचक का, 'ध्वन्यत इति ध्वनि' से व्यंग्यार्थ का 'ध्वननं ध्वनि' से व्यञ्जना व्यापार का और 'ध्वन्यते अस्मिन्निति ध्वनि' से पूर्वोक्त ध्वनि चतुष्टय युक्त काव्य का बोध होता है। यह व्याख्या लोचनकार के अनुसार है। इस प्रकार अर्थों के द्वारा ध्वनि का लक्षण कर देने पर ध्वनिकार अपने को अभिमत सिद्धि वाला समझने लगता है 'स च प्राग्रेव सिद्ध इति। अयत्न सम्पन्न समाहितार्थो सम्पन्नो हम।'

ध्वनिकार ने तो कई स्थलों पर और कई रूपों म ध्वनि का स्पष्ट लक्षण करके अलक्षणीयतावाद का खण्डन किया है। प्रथम उद्योत की तेरहवी कारिका इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये है। यथा —

यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो।
व्यङ्क्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित॥

---

१ सूरिभि कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्ति न तु यथा कथञ्चित प्रवृत्ते ति प्रतिपाद्यते प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा व्याकरणमूलत्वात सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि सूरिभि काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्र शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्व साम्याद् ध्वनिरित्युक्त। ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत।

अर्थात् जहाँ अर्थ स्व को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान लोग ध्वनि काव्य कहते हैं। यहाँ 'व्यङ्क्त' पद द्वारा द्विवचन का प्रयोग सूचित करता है कि व्यंग्य अर्थ की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण होते हैं। पहला प्रधान कारण और दूसरा सहकारी कारण। 'यत्रार्थः शब्दो वा' में 'वा' पद शब्द और अर्थ के प्राधान्याभिप्रायेण विकल्प को बाधित करता है। इसी कारण शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की व्यञ्जना मानी गई है। अतः जिन्होंने सहृदय संवेद्य ध्वनि की आत्मा को अवर्णनीय अलक्षणीय कहा है, उन्होंने भी सोच समझकर नहीं कहा है क्योंकि ध्वन्यालोककार ने ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण कई प्रकार से प्रतिपादित किया है। इतने पर भी यदि इसे अलक्षणीय कहा जाता है तो ऐसी अलक्षणीयता तो सभी वस्तुओं में आ जायगी।

ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षणों की चर्चा निम्नलिखित स्थानों पर ध्वनिकार ने की है —

१ योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः १/२ ध्वन्यालोक इसमें प्रतीयमान अर्थ के गुण की चर्चा की गई है। यह अर्थ सहृदय श्लाघ्य है काव्य की आत्मा है ऐसा निश्चित किया गया है। इसी कारिका की वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि काव्यस्य हि ललितोचित सन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा सारस्य तया स्थितः। सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः। शरीर में आत्मा के समान सुन्दर उचित रचना के कारण रमणीय काव्य के सार रूप में स्थित सहृदय प्रशंसित वह अर्थ मानना चाहिए।

२ केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीन बुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।

३ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्॥
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥१।४

"यथा हि अङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः॥" प्रतीयमान अर्थ अन्य ही होता है, जो महाकवियों की वाणी में प्राप्त होता है। यह अर्थ सुन्दरियों में जैसे अवयव से भिन्न उनका सौन्दर्य होता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी वाच्य अर्थ से भिन्न सहृदय के लिये अमृत तुल्य कोई अन्य ही तत्त्व होता है। इसमें दो बातें बताई गई हैं (१) प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में ही

प्राप्त होता है (१) वह अवयवादि से भिन्न कोई और ही तत्व है, जो इनमें रहते हुए भी इनसे (वाच्यादि) भिन्न होता है।

४ 'अर्थो गुणीकृतात्मा गुणीकृताभिधेय, शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति।' जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थान्तर (प्रतीयमान) को अभिव्यक्त करते हैं उसे ध्वनि कहते हैं। यहाँ अर्थ प्रतीयमान होने मात्र से ध्वनि संज्ञा को प्राप्त नहीं करता, अपि तु व्यंग्यार्थ की प्रधानता में ही ध्वनि की स्थिति स्वीकार की गई है।

५ यत्रार्थो वाच्यविशेष, वाचक विशेष शब्दो वा तमर्थ व्यङ्क्त स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

६ वाच्य व्यतिरिक्तस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशन यत्र व्यंग्य प्रधाने स ध्वनि। वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का वाच्यवाचक द्वारा तात्पर्य रूप से व्यंग्य का प्राधान्य होते हुए जहाँ प्रकाशित किया जाता है उसको व्यंग्य कहते हैं। इस स्वरूप निर्धारण में चार बातें स्पष्ट होती हैं (१) वह अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है (२) उसका प्रकाशन वाच्य वाचक के द्वारा ही किसी न किसी रूप में होता है। (३) वह अर्थ तात्पर्य रूप से व्यक्त होता है। (४) इसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है।

७ उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयो भवेत् ॥१।१५

जो चारुत्व किसी अन्य उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, उसको प्रकाशित करने वाला व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है। इस स्वरूप से स्पष्ट है कि (१) शब्द व्यञ्जना व्यापार से युक्त होना चाहिए (२) उसके द्वारा एक विशेष चारुत्व का प्रकाशन होना चाहिए यह चारुत्व किसी दूसरी उक्ति द्वारा सम्भव नहीं हो सकता।

८ "तस्य हि ध्वनेः सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं अतिरमणीयं अणीयसीभिरपि चिरन्तन काव्य लक्षण विधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्।' उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत अत्यन्त सुन्दर प्राचीन लक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धियों से भी अप्रस्फुटित ही रहा है। इस वाक्य में दो विशेषताओं की चर्चा हुई है। (१) सत्कवियों के काव्यों का यही रहस्यभूत तत्व है तथा अत्यन्त सुन्दर है (२) उसकी स्थिति तो सदा से रही है, पर प्राचीन काव्य लक्षणकारों की बुद्धि से भी प्रकाशित नहीं हो सकी है।

उपर्युक्त सभी उद्धरणों में ध्वनि का लक्षण किसी न किसी रूप में दिया गया है। इससे ध्वनि की स्थिति मानते हुए उस पर अलक्षणीयता का जो आरोप लगाया जाता है, उसका अपने आप ही निराकरण हो जाता है। ध्वनिकार ने आगे चलकर एक ही वाक्य द्वारा सभी पूर्वपक्षियों का खण्डन कर दिया है। उन्होंने प्रयुक्त वाक्यांश 'सकल सत्कवि काव्योपनिषद्भूतं अतिरमणीयं अणीयसीभिरपि चिरन्तन काव्य लक्षण विधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वं' से अभाववादी मत का, 'कश्चिदप्रवाहेन' वाले भाक्तवादी मत का और 'समाख्यामात्र करणे' से गुणालंकार अन्तर्भूतत्ववादी का खण्डन किया है। इसके उपरान्त, 'अथ च' शब्द के प्रयोग से 'तत्समयान्तःपातिनः कांश्चिन्' पक्ष का तथा रामायण के नामोल्लेख से यह व्यक्त किया गया है कि लौकिक साहित्य के आदि से ही सबने उसका आदर किया है। अतः इस स्वरूप निर्धारण में ध्वनि विषयक स्वकल्पित दोष नहीं है। इस प्रकार 'लक्ष्यता' पद से यह व्यक्त किया गया है कि यह ध्वनि 'वाचां स्थितमविषय' नहीं हो सकता है। इस प्रकार सभी सम्भावित पूर्वपक्षियों का निराकरण करते हुए बताया गया है कि यह ध्वनि अलक्षणीय नहीं है।

अभिधावादी और व्यंजना

प्राचीन संस्कृत लौकिक साहित्य के पश्चात्कालीन युग में लक्षण ग्रन्थों के निर्माण की जो परम्परा चल पड़ी थी, उसमें विभिन्न धाराओं के मनीषियों ने स्वाभिमत काव्य सम्प्रदायों की स्थापना की। कालक्रम से साहित्य में क्रमशः रस, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया और अन्ततोगत्वा ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना करने की प्रबल आकांक्षा को लेकर साहित्य में आनन्दवर्धनाचार्य या ध्वनिकार का उदय हुआ। इन्होंने ९वीं शती में अपने पूर्ववर्ती सभी प्रचलित सम्प्रदायों को अपने इस सम्प्रदाय की परिधि में लाकर खड़ा कर दिया तथा ध्वनि के अंगित्व का प्रतिपादन करते हुए अन्य सम्प्रदायों को अंग रूप में मानने का अथक प्रयास किया। आगे चल कर मम्मट की प्रतिभा का संयोग पाकर यह सम्प्रदाय और भी प्रबल हो गया और सभी विरोधियों के मुख सदा के लिए बन्द कर दिये गये। इन दोनों के प्रयास से ध्वनि का जो रूप उपस्थित किया गया वह अपनी महाविषमता के कारण आज तक सर्वमान्य है। इन्होंने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है। "काव्यस्यात्मा ध्वनिः।"[1] परन्तु इस अवस्था को पहुँचने के लिए आरम्भ में बहुत से विरोधियों का सामना करना पड़ा। विरोधियों के इन प्रयासों से ध्वनि की उपादेयता और अधिक सिद्ध होती चली गई तथा ध्वनियुक्त काव्य को ही उत्तम काव्य माना जाने लगा। इसके लिए ध्वनिवादियों को निम्नलिखित विचार सम्प्रदायों का खण्डन करना पड़ा—

१ वैयाकरणमत
२ साहित्यिक मत कुन्तक।
३ वेदान्ती मत अखण्डतावादी।
४ नैयायिक मत महिमभट्ट।
५ मीमांसकों का मत—कुमारिल, प्रभाकर, भट्टलोल्लट, मुकुलभट्ट।

---

१ ध्वन्यालोक १/१

६ । महिमभट्ट का अनुमान ।

१ । ७ धनञ्जय और धनिक को अभिधा और तात्पर्या ।

। ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक मे पहिले ही तीन प्रकार के विरोधियो (अभाववादी अलक्षणीयतावादी और भाक्तवादी) का खण्डन कर दिया था। और व्यञ्जना की स्थापना उ होने कर दी थी। इस व्यञ्जनावाद का निराकरण करने के लिए ध्वनिकार क विरोधियो का जो वग समक्ष आया उनमे मुकुल भट्ट (अभिधावृत्तिमातृका) धनञ्जय (दशरूपक), भट्टनायक (हृदयदपण), लक्ष्य और व्यग्य का भी अभिधा में ही अन्तर्भाव मानने वाले अभिधावादी कुन्तक (वक्रोक्ति जीवितम्), महिम भट्ट (व्यक्तिविवेक), आदि हैं।

सुविधा के लिए शब्द की शक्ति के आधार पर विरोधियो को निम्न लिखित वर्गों मे माना जा सकता है—

१ अभिधा द्वारा व्यग्याथ को बोध मानने वाले—प्रभाकर भट्ट, धनञ्जय और अलकारवादी (समासोक्ति, व्याजोक्ति आक्षेप आदि अलकारों में) मुकुल भट्ट।

२ तात्पर्या द्वारा व्यग्याथ को बोध मानने वाले—कुमारिल भट्ट, धनिक भट्टलोल्लट प्रभृति—

३ लक्षणा द्वारा व्यग्य बोध मानने वाले।

४ वेदान्तियों का अखण्डतायतावादी।

अभिधा शक्ति से व्यग्याथ बोध का निराकरण—व्यञ्जना क अभिधा वादी विरोधियो के अनुसार अभिधा द्वारा ही प्रतीयमान अथ का बोध हो जाता है। अत" उसके लिए व्यञ्जना जसी अलग शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्त पक्षी (ध्वनिवादी) सवप्रथम अभिधा से अतिरिक्त व्यञ्जना की सिद्धि स्वतन्त्र रूप मे करता है और विभिन्न युक्तियों द्वारा अपने मत का समथन करता है।

व्यजना की अलग सत्ता का आधार—साहित्य दपणकार ने अभिधा से व्यञ्जना की अलग सत्ता सिद्ध करने के लिए सख्या स्वरूप काल, आश्रय, निमित्त, व्यपदेश, काय विषय आदि के आधार को ग्रहण किया है।[1] और इस प्रकार वाच्य और प्रतीयमान अथ की अलग स्थिति मानी गई है।

---

१ बोद्ध स्वरूप सख्या निमित्त काय प्रतीति कालानाम्।
आश्रय विषयादीना भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यग्य । सा० दपण

(क) बोद्ध के आधार पर अभिधा और व्यजना की भिन्नता—ध्वन्या लोककार ने बताया है कि पद पदार्थ म व्युत्प न सभी विद्वानों का वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ का अनुभव व ज्ञान केवल सहृदय को ही हो सकता है। अत शब्दार्थ शासन ज्ञान मात्र से ही इस प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान नही हो सकता है, अपि तु काव्यार्थ तत्वज्ञ सहृदय ही उसका ज्ञाता हो सकता है।[1] इस प्रकार बोद्ध की मानसिक स्थिति अर्थात सहृदयता और संस्कार के आधार पर वाच्य अर्थ प्रतीयमान अर्थ से भिन्न हो जाता है। इसी से आर्यो व्यञ्जना का भेद बताते हुए 'बोधव्य' की महत्ता को स्वीकार किया गया है।[2] यहाँ पर बोधव्य का अभिप्राय प्रतिपाद्य है, अर्थात जिसके बोध कराने के लिए बात कही गई हो "बोद्ध योग्य बोधव्य बोद्ध अर्थात बोधयितुम् अन्तर्भावितुमित्यर्थ।"

(ख) स्वरूप के आधार पर दोनों मे भेद—वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के स्वरूप मे भी भिन्नता है। इन दोनो का विशद् वर्णन ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका से बारहवी कारिका तक किया गया है और बताया गया है कि जसे स्त्रियो के अवयवों से भिन्न उनका लावण्य उन्हीं में रहता हुआ भी उनसे भिन्न सत्ता वाला होता है। उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ पर आधारित होकर भी उनसे सर्वथा भिन्न होता है और लावण्य के समान ही यह अर्थ सहृदयो को चमत्कृत करता है। अत वाच्यार्थ से इसकी भिन्नता स्वत सिद्ध है।

(१) वाच्यार्थ सदैव शब्द के शासन के अनुसार रहता है, अर्थात शब्दों के प्रयोग के अनुसार ही वाच्य अर्थ होता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ का वाच्यार्थ के अनुकूल होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार दोनों के स्वरूप मे स्पष्ट रूप से अन्तर दिखाई पडता है यथा—

(२) कही वाच्य अर्थ विधि रूप होता है और व्यग्यार्थ निषेध रूप—

भम धम्मिअ बीसत्थो सो सुण हो अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छ कुडगवासिणा दरिअ सीहेण ॥

---

१ शब्दार्थ शासन ज्ञानमात्रणव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थ तत्वज्ञ रेव केवलम्॥ ध्वन्यालोक १/७
काव्य प्रकाश ३/२१–२२

२ प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत १/४

यहाँ वाच्यार्थ विधि रूप है अर्थात् हे धार्मिक, अब तुम निश्चिन्त होकर घूमो।' परन्तु व्यंग्यार्थ निषेध रूप है अर्थात् पहले तो तुम्हारे कार्य में बाधा डालने वाला कुत्ता था परन्तु अब दृप्त सिंह आ गया है और वह इसी गोदावरी के तट के कुंज में रहता है। अतः प्रकट है कि कुत्ते की अपेक्षा सिंह अधिक भयानक होता है। उसकी उपस्थिति में तुम्हारा यहाँ आना हितकर न होगा अतः मत आना। इस प्रकार स्वैर विहारिणी नायिका अपने संकेत स्थल के कार्य व्यापार को निर्विघ्न समाप्त कर देना चाहती है।

(२) वाच्य निषेध रूप और व्यंग्यार्थ विधि रूप—

अत्ता एत्थ णिमिज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअंधअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥

यहाँ वाच्यार्थ निषेध रूप है कि मेरी शय्या पर रात्रि में न आना, परन्तु प्रतीयमान अर्थ आने के निमन्त्रण में है, क्योंकि सास शैय्या पर निमज्जित रहती है तथा मैं इस शय्या पर सोती हूँ। इसे भली भांति देख लो, ऐसा कहना निमन्त्रण की ओर ही संकेत कर रहा है। अतः प्रतीयमान अर्थ विधि रूप हुआ।

(३) वाच्य विधि रूप, प्रतीयमान अनुभय रूप—

वच्च महं विअ एक्के इहो'तु णीसासरोइअव्वाई।
मातुज्ज वि तीअ विणा दाक्खेण्ण हअस्स जाअन्तु॥

इस गाथा में 'उसी के पास जाओ' यह वाच्यार्थ विधि रूप है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ न विधि है न निषेध रूप है, क्योंकि यह उक्ति खण्डिता नायिका की है और इससे क्रोध की व्यञ्जना हो रही है। भाव यह है कि 'तुम जाओ।' मैं अकेले ही इस निश्वास और रोने को भोगूं। कहीं दाक्षिण्य के चक्कर में पड़कर, उसके बिना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

(४) वाच्य निषेध रूप और व्यंग्य अर्थ अनुभय रूप—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह णा विलुत्ततमणिवहे।
अहि सारिआण विग्घं करोसि अण्णाण वि हआसे॥

'प्रसन्न हो जाओ, लौट आओ, अपने चन्द्रमुख की ज्योत्सना से अंधकार को लुप्त करने वाली तुम अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डालती हो।" यहाँ वाच्य अर्थ निषेध रूप है और व्यंग्य अर्थ अनुभय रूप है। यहाँ चाटुकारिता रूप व्यंग्य की प्रतीति हो रही है।

इस प्रकार विदित हो जाता है कि वाच्य और व्यंग्य अर्थ के स्वरूप में भिन्नता होती है। वाच्य के विधि रूप या निषेध रूप होने पर आवश्यक नहीं है कि व्यंग्य अर्थ भी विधि रूप या निषेध रूप ही हो। वह उसके विपरीत भी हो सकता है और अनुभय रूप भी हो सकता है। कभी वाच्यार्थ निन्दा रूप और व्यंग्यार्थ स्तुति रूप भी हो सकता है।

(ग) संख्या भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भिन्नता—व्यवहार में यह भी देखा जाता है कि वाच्यार्थ सदैव साक्षात् संकेतित अर्थ को ही आधार बनाता है वह सदा नियत और एक रूप ही रहेगा। चाहे शब्द का प्रयोग किसी भी प्रकार किया जाय परन्तु उसकी एक रूपता में विभेद नहीं हो सकता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ तद् तत् प्रकरण, वक्ता और श्रोता आदि की वैयक्तिक विशेषताओं के साथ नानात्व का रूप धारण करता है।[1] इस प्रकार व्यंग्य अर्थ कई हो सकते हैं। जबकि वाच्यार्थ एक ही होता है। यथा—"गतोऽस्तमर्क सूर्य अस्त हो गया। इस वाच्यार्थ का प्रकरण, वक्ता, बोद्ध आदि से व्यंग्यार्थ कई हो सकते हैं। जैसे—सेनापति पक्ष में—शत्रुओं पर आक्रमण कर दो, अभिसारिका पक्ष में—अभिसार करने का समय हो गया है, प्रतीक्षा करने वाली पत्नी के पक्ष में—तुम्हारे पति आने ही वाले हैं, श्रमिक पक्ष में—श्रम करने से निवृत हो जाओ धार्मिक पक्ष में—सन्ध्या वंदन का समय हो गया, बाहर खेलने वाले बालक के पक्ष में—दूर न जाना, गोपाल के पक्ष में—गायों को घर में प्रवेश कराओ आदि वक्ता और बोद्धा के हिसाब से व्यंग्य अर्थ की अनेक संख्या हो सकती है। अतः संख्या के आधार पर भी वाच्यार्थ सदैव नियत और एक होता है। और व्यंग्यार्थ अनियत और अनेक हो सकते हैं। इस प्रकार 'कस्य वान भवति रोषः । वाले श्लोक में भी कई व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है।

(घ) निमित्त भेद—वाच्यार्थ बोध का कारण संकेतग्रह है अर्थात् शब्द के उच्चारण मात्र से जिस साथ अर्थ का भान होता है वही वाच्य अर्थ होता है परन्तु व्यंग्यार्थ का भान उसी को हो सकता है। जिसकी प्रतिभा निर्मल हो

---

१ (i) वाच्योऽर्थः यस्मात् वक्त्रः वाच्यार्थतत्त्व तदेव भाव्यते। यदि च वाच्य रूप एवागमः स्यात् तद् वाच्य बोधकस्वरूपपरिज्ञाना देव तत्प्रतीति स्यात। ध्व० प्रथम उ० पृ० ४६

(ii) वेदने न तु वाच्यार्थतत्त्वेन देव केवलम्। व्यंग्यालोक पहला उद्योत

और जो सहृदय काव्यतत्वज्ञ हो।[1] अत दोनो प्रकार के अर्थों के ज्ञान के लिए 'निमित्त' मे भी अन्तर होने से दोनो म भेद माना जायगा।

(ङ) कार्य भेद—दोनो मे कार्य का भी भेद है। वाच्यार्थ केवल अर्थ प्रतीति मात्र कराता है। इससे वस्तु, वर्ण, गुण आदि के सम्बन्ध मे एक सामान्य ज्ञान की प्रतीति होती है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ चमत्कार का जनक होता है।

(च) प्रतीति भेद—वाच्यार्थ की प्रतीति अर्थ रूप में और व्यंग्यार्थ की चमत्कार रूप म होती है। अत दोनो की प्रतीति में भी भिन्नता है।

(छ) काल भेद—वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाने के उपरान्त ही व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है, यद्यपि इस क्रम का स्पष्ट ज्ञान नही होता, फिर भी उन दोनों में पूर्वापर सम्बन्ध रहता ही है। अत इन दोनो के ज्ञान में काल का भी भेद रहता है।

(ज) आश्रय भेद—वाच्यार्थ शब्द के आश्रित रहता है और व्यंग्यार्थ शब्द के अतिरिक्त शब्दार्थ, अर्थ वर्ण, संघटना तथा शब्द के एकदेश प्रकृति प्रत्यय, आदि म भी रह सकता है। अत आश्रय का भी भेद है।

(झ) विषय भेद—वाच्य और व्यंग्य अर्थ के विषय मे भी भेद हो सकता है। ऊपर के उदाहरणो म, जहाँ स्वरूप के आधार पर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद को बताया गया था वहा चारों उदाहरणों में वाच्य और व्यंग्य अर्थ के विषय क्रमश एक ही है अर्थात् दोनो के विषय धार्मिक, पथिक, प्रियतम और अभिसारिका हैं। परन्तु कहीं कहीं पर दोनों के विषय में भिन्नता भी होती है। जैसे—

> कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियाया सव्रणमधरम्।
> सभ्रमर पद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

अपनी प्रिया के अधर-व्रण को देखकर किसको रोष नही होता। मना करने पर भी भ्रमरयुक्त कमल को सूघने वाली, अब तू इसका फल भोग।" यहाँ चौर्यरति के समय अविनीता के अधरो म व्रण देखकर उसका पति उसे

---

१ अपि च वाच्योऽर्थ सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एक रूप एवेतिनियतोऽसौ प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादि विशेषसहायतया नानात्व भजते। का० पृ० ५ उल्लास

वही व्यभिचारिणी न समझ बैठे, इसलिए उसकी सखी पास में वर्तमान पति को अनदेखा सा करती हुई उसे सुनाकर उक्त वचन को कहती है। इस प्रसंग में वाच्यार्थ का विषय तो वह दुश्चरित्रा स्त्री है। परन्तु व्यंग्यार्थ यह है कि यह अधर व्रण परपुरुष जन्य न होकर भ्रमर दंश जन्य है। अतः इस स्त्री का अपराध नहीं है। इस व्यंग्य का विषय नायक है। अतः दोनों के विषय भेद से भी दोनों में भेद माना जायगा, इसी प्रकार इस पद्य में वाच्यार्थ का विषय सदैव अविनीता स्त्री ही होगी, परन्तु व्यंग्यार्थ का विषय प्रतिनायक सपत्नी, पड़ोसी आदि भी हो सकते हैं।

इस प्रकार वाच्य अर्थ और वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यंग्य में भेद दिखाने के लिए अभी तक उपर्युक्त जितनी उक्तियाँ दी गई हैं, उन सबका आधार प्रतीयमान अर्थ का एक विशेष भेद वस्तु मात्र रहा है, अलंकार और रसादि भेद में भी यह प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में अलंकार भेद की वाच्यार्थ से भिन्नता प्रतिपादित की गई है रसध्वनि में भी प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न ही होता है। क्योंकि—

क्या रस वाच्य है?—रसादि लक्षण भेद वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है साक्षात् शब्द व्यापार का विषय नहीं होता है। अतः यह भी वाच्यार्थ से भिन्न ही होगा[1] यदि इस प्रतीयमान रसादिलक्षण अर्थ को वाच्य का विषय माना जाय तो यह दो प्रकार से सम्भव हो सकता है।

(१) स्वशब्द वाच्य हो सकता है अर्थात् शृङ्गार आदि रसों का नाम मात्र ले लेने से इसकी वाच्यता।

(२) विभावादि के प्रतिपादन द्वारा रस की वाच्यता होगी।

यदि पहले को ग्रहण करें तो स्वशब्द से निवेदित न होने से रसादि का अनुभव न होगा, जहाँ कहीं अनुभव होता भी है वहाँ विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही होगा। अतः सब स्थानों पर स्वशब्द वाच्यता का महत्व नहीं होता है। संज्ञा शब्दों से वह उत्पन्न नहीं होता, केवल उसका अनुवाद हो सकता है और यदि केवल रसादि के संज्ञा शब्दों का प्रयोग किया जाय तो उसमें कुछ भी रसवत्ता नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि रसादि संज्ञा शब्दों के अभाव में भी

---

१ तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। ध्वन्या० प्र० उ० पृष्ठ २६।

विशिष्ट विभावादि से ही रस की प्रतीति होती है और विभावादि के न रहने पर केवल सना न्द के प्रयोग स रसादि की प्रतीति नहीं होती है। अत अ वय व्यतिरक स भी वाच्य सामथ्य से अक्षिप्त ही रसादि होते हैं, कभी भी वाच्य नही हाने।[1] इस प्रकार 'प्रतीयमान अथ की प्रधानता वाले ध्वनि के तीन भेदों वस्तु ध्वनि अलकार ध्वनि और रस ध्वनि में वाच्य अथ और प्रतीयमान इन दोनो प्रकार के अर्थो की अलग अलग सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अत अ य साधक उक्तियो द्वारा दोनों प्रकार के अर्थों की भिन्नता बताई जायगी।

साहित्य शास्त्र की दृष्टि से व्यजना की सिद्धि—

दुष्ट प्रयोग के आधार पर व्यञ्जना की सिद्धि—अभी तक वाच्य और प्रतीयमान अथ की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। और जहाँ पर प्रतीय मान अथ की प्रधानता होती है वहो पर ध्वनि कही जाती है। शब्द की जिस शक्ति द्वारा इस ध्वनि का बोध सहृदयो को होता है, उसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। यह व्यञ्जना अभिधा शक्ति से निश्चित रूप से भिन्न है क्योंकि अभिधा से वाच्य अथ का ही बोध होता है, परन्तु व्यञ्जना से प्रतीयमान अथ की प्रधानता वाले काव्य का बोध हाता है। अत दानों में भिन्नता है। इसी भिन्नता का प्रतिपादन काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास म विभिन्न साहित्यिक उक्तियों द्वारा लिया गया है। आचाय मम्मट ने बताया है कि काव्य में बहुधा देखा जाता है कि किन्ही शब्दो क क्रम में उलट फेर कर देने से उन शब्दो के साधु प्रयोग क स्थान पर दुष्ट प्रयोग हो जाता है और उनस अश्लीलत्व की व्यञ्जना होन लगती है। यदि ऐसे स्थानो पर व्यञ्जना शक्ति को न माना जाय तो अभिधा द्वारा इस प्रकार के दुष्ट प्रयोग का अवसर ही नही आ सकता है। उदाहरणत 'कुरु रुचिम्' पद का सामान्य अथ स्पष्ट ही है। यदि इसी को उलटकर 'रुचिकुरु' कर दिया जाय तो यह 'दुष्ट प्रयोग' हो जाता है, क्योंकि इस पद म जो श्रूयमाण 'चिकु' शब्द है, उससे एक असभ्य अथ (भगनासा या स्त्री का यो यङ्कुर) निकल पडता है। यदि अभिधा द्वारा केवल एक अ वित अथ का ही बोध माने, जसा मीमासक मानते हैं तो इस अश्लील अथ की जो व्यञ्जना यहाँ हो रही है उसका बोधक क्या अभिधा ही होगा? वास्तव में यह अथ अभिधेय नहीं कहा जा सकता है यदि एक क्षण के लिए,

---

१ तस्माद वय—व्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् न त्वभिधेयत्व क्वचित इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्। ध्व० प्र० उ० २६।

इसे अभिधेय मान भी लें, तो यह अर्थ जो 'कुरु रुचिम्' के शब्द क्रम को उलट कर 'रुचिम् कुरु' करने से बना है, वह इन दोनों शब्दों का अन्वित अर्थ तो हो ही नहीं सकता है, क्योंकि 'चिक्कु' शब्द 'रुचिम्' के 'चिम्' और 'कुरु' के 'कु' के योग से बना है जो 'रुचिम्-कुरु' का अन्वित अर्थ नहीं है। अतः अभिधा द्वारा इस अर्थ का बोध नहीं माना जा सकता है। प्रयोग में इसी अश्लीलता को बचाने के लिए 'रुचि कुरु' प्रयोग को बचाया जाता है, क्योंकि व्यञ्जना द्वारा इसका ज्ञान हो जाता है।

दोष की नित्यता अनित्यता के आधार पर भेद—आलङ्कारिकों ने काव्य में दो प्रकार के दोषों का वर्णन किया है। (१) नित्य दोष—जो किसी भी प्रकार की रस ध्वनि आदि में मान्य नहीं है। रस, भाव, रसाभास, भाव संधि, भाव शबलता, भाव शान्ति आदि सभी में इन नित्य दोषों को त्याज्य माना गया है, व्याकरण नियमों के प्रतिकूल प्रयोग को नित्य दोष—असाधुत्व-दोष के अन्तर्गत मानते हैं और 'कष्टत्व' श्रुतिकटुत्व' जो करुण शृंगार आदि रसों में बाधक होता है, रौद्र रस में साधक हो जाता है। अतः इसकी नित्यता में रसों के आधार पर अन्तर आता चला जाता है।

इन नित्य-अनित्य दोषों का विभाजन तभी उचित कहा जा सकता है, जब व्यंग्य व्यञ्जक भाव—व्यञ्जना व्यापार को मान लिया जाय। यदि श्रुति-कटुत्व आदि अनित्य दोषों के विभाजन में किसी विशेष शब्द का अभिधा गम्य अर्थ ही मानें और व्यञ्जना व्यापार गम्य न मानें तो ऐसी दशा में किसी शब्द का अभिधा-बोध्य अर्थ तो सदैव एक सा ही रहता है और उसके गुणादि में कोई अन्तर नहीं आना चाहिए परन्तु व्यवहार में वही श्रुतिकटुत्व दोष जो रौद्र रस का साधक है, करुण में बाधक बन जाता है। अभिधेय अर्थ तो सदा एक रहता है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है, परन्तु यहाँ जो परिवर्तन हो जाता है, वह अभिधा-व्यापार जन्य कदापि नहीं हो सकता है। उसके लिए व्यञ्जना का मानना अनिवार्य हो जाता है। अभिधा बोध्य अर्थ सदा एक रहता है परन्तु व्यञ्जना व्यापार रूप में नानात्व होता है। यह बात ऊपर लक्षणा भेद के प्रकरण में बताई जा चुकी है। अतः व्यंग्यार्थ के विभिन्न रूप होने के कारण ही एक ही श्रुतिकटुत्व जहाँ शृंगार में परित्याज्य है वहीं रौद्र में उपादेय भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की अनुकूलता और प्रतिकूलता के आधार पर ही दोषों का यह विभाजन किया गया है। इस दृष्टि से भी व्यञ्जना की पृथक् सत्ता मानी जाती है।

(ग) शब्द गौरव पद के पदों के प्रयोग का औचित्य—आलङ्कारिकों

क मत मे किसी विशिष्ट पद का किसी विशेष प्रकरण मे सौन्दय-वद्ध क अथ होता है, जो सामान्य प्रयोग म वसा नहीं माना जा सकता है, जसे 'कुमार-सम्भव' के पञ्चम सग मे "द्वयगत सम्प्रति शोचनीयता समागमप्रार्थनया कपालिन ।" म कपालिन पद सौन्दय-वद्ध क रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है । अभिधेयाथ मे तो कपाली और पिनाकी का एक ही शिव परक अथ है । दोनों पर्याय रूप में आते हैं । प्रसग के अनुकूल इस स्थान पर कपाली खप्परधारी शिव का प्रयोग करके उनकी निन्दा ही अभिव्यञ्जित की गई है । यदि पिनाकी शब्द का प्रयोग किया जाता तो उसका शिव के वीर भावाविष्ट अथ की प्रशसात्मक अभिव्यञ्जना होती जो प्रस्तुत प्रसग मे कोई भी चमत्कार लाने म सक्षम न हो पाता । क्योंकि यहा पर शिव की निन्दा द्वारा पार्वती के मन मे उनके प्रति विराग उत्पन्न करना ही कवि कालिदास का अभिप्रेत है । पिनाकी शब्द से पिनाक को धारण करने वाले शिव के वीर रूप का ही चित्र समक्ष आता है । अत कपाली शब्द म जो एक निन्दात्मक विशेष चमत्कार उत्पन्न हो गया है तथा जो अधिक उपयुक्त और काव्यानुगुण प्रयोग है, वह व्यञ्जना व्यापार को माने बिना केवल अभिधा से सम्भव नही हो सकता है ।

(घ) वाच्याथ और व्यग्याथ की प्रतीति म बोद्ध, स्वरूप, सख्या, काल आदि की चर्चा की जा चुकी है । इन आधारों पर भी वाच्य और व्यग्य अर्थों की अलग अलग सत्ता सिद्ध हो जाती है । स्वरूप भेद मे वाच्य और व्यग्य अथ की भिन्नता तीनों रूपों म दीख पड़ती है—

(१) विधि-निषेध और अनुभय रूप म[1]
(२) निन्दा और स्तुति रूप म[2]
(३) सशय, शान्त तथा शृङ्गारी रूप म[3]

(ङ) वाच्य और व्यग्य के कारणभूत वाचक और व्यजक शब्द के भेद का आधार —व्यवहार म माना जाता है कि विभिन्न दो वस्तुओं म धम भेद के कारण ही उन दोनों को एक नहीं मान सकते हैं । एक वस्तु का जो कारण है वह दूसरी वस्तु का भी कारण नही हो सकता है यदि दोनों के धर्मो म विभिन्नता हो । वाच्य और व्यग्य अथ ही अलग अलग नहीं होते हैं अपितु

---

१ ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत पृष्ठ २०-२२-२३-२५
२ का० प्र० पृष्ठ २४३ उदाहरण सख्या १३४
३ का० प्र० पृष्ठ २४३ उदाहरण सख्या १३३

इन अर्थों के द्योतक वाचक और व्यञ्जक शब्दों में भी अंतर रहता है। वाचक शब्द सदैव ही अर्थ व्यञ्जक होता है, परंतु निरर्थक अवाचक शब्दों से भी व्यञ्जना हो सकती है अर्थात् वाचक का अर्थ की अपेक्षा रहती है और व्यञ्जक को नहीं भी रहती है। वाचक शब्दों द्वारा अभिधा का व्यापार साक्षात संकेतित अर्थ को लेकर काम करता है परन्तु व्यञ्जना का व्यापार शब्द के साक्षात संकेतित अर्थ का शासन नहीं मानता। इस प्रकार कार्य क्षेत्र में अर्थ के साक्षात् और असाक्षात संकेतित अर्थ का भी प्रभाव वाच्य और व्यंग्य पर बना रहता है। इस प्रकार वाचक और व्यञ्जक शब्द भी अलग अलग मानने पड़ेंगे। ऐसी दशा में वाच्य और व्यंग्य अर्थ भी भिन्न भिन्न ही होंगे। और उन अर्थों की बोधिका अभिधा और व्यञ्जना शक्ति को भी भिन्न मानना पड़ेगा। इस बात का समर्थन टीकाकार ने भी किया।

अथ वाच स्वरूप भ —यद् गुणवृत्तिगुप्त्यर्थं अवाचकस्य वाचक स्वमयोच्यते, व्यञ्जकत्व तु वाचकत्वात्य त विभिन्नमव''[१]

की मलीनता का वर्णन है। यहा मुख-कान्ति की मलीनता शब्दत कथित है जो अधिक चमत्कार जनक है और यही तात्पर्य का विषयभूत अर्थ है, परन्तु इसी से दूसरे अवस्थित अतात्पर्यभूत अर्थ की—अर्थात् फिर यह ग्राम तरुण मुझे प्राप्त न हो सकेगा—व्यञ्जना हो रही है। यह दूसरा अर्थ पहले के समान चमत्कार युक्त न होने पर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तो रखता ही है। इस दूसरे अर्थ की व्यजना अभिधा द्वारा सम्भव नही है। क्योंकि इस अर्थ का द्योतक कोई भी शब्द यहाँ प्रयुक्त नही हुआ है। साक्षात संकेत न होने के कारण यह अभिधा का व्यापार नही हो सकता और दूसरे अर्थ की व्यजना स्पष्टत हो रही है। अत इसे हम व्यजना का ही व्यापार मानेंगे। इस प्रकार व्यजना की अलग सत्ता स्थिर हो जाती है, और यह सिद्ध हो जाता है कि अभिधा शक्ति से प्रतीयमान अर्थ का बोध नही हो सकता है। अत प्रतीयमान अर्थ एक भिन्न वृत्ति व्यजना से ही स्पष्ट होता है।

व्यग्यार्थ के अभिधा गम्यता का निराकरण —इस व्यजना को न मानने वाले अभिधावादियो का जो वर्ग सर्वप्रथम समक्ष आता है। वह मीमासको का है। यदि अभिधाशक्ति से ही प्रतीयमान अर्थ का बोध मानें तो इसके दो रूप हो सकते हैं —

(१) वाच्यार्थ के साथ ही व्यग्यार्थ का भी बोध अभिधा से ही माना जाय।

(२) पहले वाच्यार्थ और बाद मे व्यग्यार्थ का बोध क्रमश माना जाय।

खण्डन — प्रथम विकल्प का खण्डन सरल है। इसमे वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ का बोध एक साथ माना गया है। ऊपर जो विधि निषेधयुक्त 'भ्रम धार्मिक ' आदि श्लोकों का उदाहरण दिया गया है उनमे दोनों प्रकार के विधि निषेधयुक्त दो विरोधी भावो वाले अर्थ का ज्ञान एक ही अभिधा शक्ति से नहीं हो सकता है। इनमे एक तो वाच्य अर्थ है और दूसरा प्रतीयमान है। अत एक साथ दोनों का बोध सम्भव नही है।

दूसरे विकल्प के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि 'विशेष्य नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्ति विशेषणे' अर्थात् विशेषण का बोध कराने मे क्षीण हुई अभिधा शक्ति विशेष्य तक नही पहुँच सकती है। इस प्रकार अभिधा शक्ति एक ही बार अपना व्यापार कर सकता है, और उस प्रथम व्यापार मे वाच्य

अर्थ को बताने म अभिधा शक्ति क्षीण हो चुकी है। अत इससे प्रतीयमान अर्थ का बोध नही हो सकता है तथा वाच्य और प्रतीयमान का क्रम ठीक नहीं माना जा सकता है।

(२) अभिधा से सकेतित अर्थ का ही बोध होता है और प्रतीयमान अर्थ संकेतित अर्थ नहीं है। अत अभिधा द्वारा इसका बोध नहा माना जा सकता है।

स्फोट — इस प्रकार प्रतीयमान अथ एव व्यजना शक्ति की सत्ता स्थापित हो जाने पर अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि व्यञ्जना विरोधी अभिधावादियो का जो मत है, वह कहाँ तक समीचीन कहा जा सकता है। ध्वनिवादियों का सिद्धान्त वयाकरणो के स्फोटवाद से प्रभावित हुआ है। उनके अनुसार ध्वन्यात्मक शब्द स्पष्ट नही होते हैं और य ही ध्वन्यात्मक शब्द अखण्ड रूप म पद, वाक्य महावाक्यादि की प्रतीति कराते हैं। इनके द्वारा जिस अखण्ड तत्व की व्यञ्जना होती है उसे स्फोट कहते है। ध्वनिवादियों का प्रतीयमान अथ भी पद, वाक्य, अर्थादि द्वारा व्यञ्जित होता है। मीमासको के अनुसार प्रत्येक ध्वनि के श्रवण से उस ध्वनि का 'सस्कार' बन जाता है और यही सस्कार अतिम ध्वनि के साथ मिलकर शब्द का ग्रहण और अथ की प्रतीति कराता है। इस प्रकार पूव पूव वर्ण श्रवण जनित सस्कार सहकृत' अतिम वण के सम्पर्क से ही शब्द ज्ञान और अथ बोध होता है। वयाकरणों के इस स्फोट सिद्धा त एव व्यञ्जना का खण्डन मीमासको ने किया है फिर भी भर्तृहरि के वाक्यपदीय म स्फोट सिद्धा त का तथा आनन्दवधन, अभिनवगुप्त और मम्मट के ग्रन्थो म व्यञ्जना और ध्वनि का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है।

कुमारिल भट्ट का मत — स्फोट सिद्धा त का खण्डन करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है कि "दीपक के प्रकाश से घट के प्रकाशित होने के ही समान वर्ण या ध्वनियां, पद या वाक्य के स्फोट को व्यञ्जित नहीं करते हैं। इस प्रकार उनमे व्यञ्जकत्व नहा होता।"[1] आगे चल कर तात्पर्य शक्ति मे व्यञ्जना का समावेश करने का बीज भी अलंकारिकों को

---

1 वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोट न पदवाक्ययो।
व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादय॥

श्लोकवार्तिक,श्लो। १३१,
मद्रास संस्करण

मारिल से ही प्राप्त हुआ है, इन मीमासकों को अभिधावादी भी कहा जाता है और ध्वनि सिद्धान्त के प्रबलतम विरोधी ये ही रहे हैं। अत इनके मतों का खण्डन करने के उपरान्त ही ध्वनि सिद्धान्त एवं व्यञ्जना की पूर्ण रूप से स्थापना मानी जायगी।

मीमांसक मत—अभिधावादियों का खण्डन मुख्य रूप से ध्वन्यालोक की लोचन टीका, काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण में किया गया है। इन मीमांसकों को निम्नलिखित रूपों में बताया जा सकता है—

१ कुमारिल भट्ट का अभिहितान्वय वाद।
२ प्रभाकर भट्ट का अन्विताभिधानवाद।
३ निमित्तवादियों का मत।
४ भट्टलोल्लट का दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापारवाद।
५ धनञ्जय और धनिक का तात्पर्यवाद।
६ मुकुल भट्ट का अभिधा वृत्ति मातृका।

(क) अभिहितान्वयवादी और व्यञ्जना——कुमारिल भट्ट के मत को मानने वाले पार्थसारथि मिश्र आदि अभिहितान्वय वादियों या भाट्ट मीमासक कहते हैं। इन लोगों के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद से पहले वाच्य अर्थ का ज्ञान होता है। अब सभी पदों का अलग अलग वाच्यार्थ मालूम हो जाता है तो वक्ता के तात्पर्य के अनुसार आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के द्वारा उन पदों का परस्पर अन्वय होता है। अन्वय हो जाने पर ही सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ बोध हो पाता है। इस प्रकार किसी वाक्य का अर्थ वास्तव में उसका वाच्य अर्थ न होकर तात्पर्यार्थ होता है और जिस शब्दशक्ति से यह अर्थ बोध होता है, उसे मीमासक तात्पर्या शक्ति कहते हैं। इस प्रकार वाक्य के अर्थ बोध की तीन श्रेणियां है।

(१) पदों से अभिधा शक्ति द्वारा पदार्थों की उपस्थिति और उनका अलग अलग वाच्यार्थ ज्ञान।

(२) आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से उन पदार्थों का परस्पर अन्वय।

(३) वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका अर्थ-बोध।

इसमें पदार्थों के अन्वय के समय से ही वाक्यार्थ बोध हो पाता है। इस मत के अनुसार पदार्थ समय रूप अर्थ-बोध ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है, अर्थात् पदों से उपस्थित पदार्थों के वाच्य अर्थ का संसर्ग द्वारा अर्थ-बोध

करा देना ही इसका काम है। इस प्रकार सामान्य अर्थ का ही द्योतन हो पाता है।

खण्डन—आचार्य मम्मट ने बताया है कि इस तात्पर्यशक्ति का काम केवल पदार्थों का अन्वय बोध करा देना ही है 'अभिहितान्वय' शब्द का व्युत्पत्ति गत अर्थ भी इतना ही है कि 'अभिहित' का कही हुई बात का अन्वय करा देना और इस प्रकार अर्थ का जो ज्ञान होता है, वह सामान्य रूप वाला ही माना जाता है। ध्वनिवादियों का प्रतीयमान अर्थ तो इसके भी बाद मे प्रतीत होने वाला अर्थ है, जो साक्षात् संकेत का विषय नही होता। ऐसी दशा मे अभिहिता-न्वयवादियों के मत से 'अन्वित अर्थ' ही वाच्य अर्थ है और वाक्यार्थ तो उसका अन्वित विशेष अर्थ है, जो वाच्य अर्थ से भिन्न है अतः अतिविशेष रूप जो प्रतीयमान अर्थ है, उसे तो वाच्य की कोटि म रखा नही जा सकता है, क्योंकि जब वाक्यार्थ ही अवाच्य है तो प्रतीयमान अर्थ भला किस प्रकार वाच्य माना जा सकता है।

(ii) इस मत मे वाक्यार्थ ही अभिधा गम्य नही है तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो अभिधा से हो ही नहीं सकती है। इनके अनुसार अभिधा से केवल पदार्थों की उपस्थिति हो जाती है। पदार्थ के संसर्ग रूप वाक्यार्थ का ज्ञान तात्पर्या शक्ति से होता है। अतः व्यंग्य अर्थ तो इस मत से अभिधा द्वारा गम्य हो ही नही सकता है।

(iii) जब वाच्यार्थ बोध के लिये ही अभिधा से अतिरिक्त तात्पर्या शक्ति को माना जाता है, तो इस वाक्यार्थ बोध के भी बाद प्रतीत होने वाले प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे हो सकती है? यह वाक्यार्थ वास्तव मे पदों का अर्थ नही है।[1] अभिधा से तो केवल पदों के अर्थ का ही ज्ञान होता है पूरे वाक्य का बोध उसकी शक्ति से परे है। अतः बाद म प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है। इसी का समर्थन मम्मट ने किया है कि '*अर्थशक्ति मूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्य* रूपाणां पदार्थानामाकाङ्क्षा सन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्याभिधेयतायाम्।"[2]

---

१ तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति का० प्र० ५

२ काव्य प्रकाश—पंचम उल्लास।

(ख) अन्विताभिधानवाद और व्यंजना—कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर का मत 'गुरुमत' कहा जाता है। इन्होंने अभिहितान्वयवाद के विरोध में अन्विताभिधानवाद का प्रचार किया, और इनके टीकाकार शालिकनाथ मिश्र ने 'ऋजुविमला टीका' में इनके मत का समर्थन किया है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहले पदों से अनन्वित पदार्थों की उपस्थिति होती है, और तात्पर्यवृत्ति के अनुसार इनका अन्वय होकर वाक्यार्थ प्राप्त होता है। इसके विपरीत प्रभाकर के अन्विताभिधान वाद के अनुसार अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है। वाक्य के अन्वय और वाक्यार्थ प्राप्त के लिये तात्पर्या शक्ति जैसी किसी अन्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है। अर्थात् कुमारिल के अनुसार अनन्वित पदार्थों की उपस्थिति और प्रभाकर के अनुसार अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है। इस प्रकार वाक्य में अन्वित पदों के ही अर्थ की प्रतीति अभिधा शक्ति से होती है। अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान या संकेत ग्रहण वाक्य के ही रूप में होता है। पदों या शब्दों के रूप में नहीं, जैसा कि अभिहितान्वयवादी मानते हैं। इसी से प्रभाकर ने अपने ग्रन्थ में इसका समर्थन किया है।[1]

वाक्य ही अर्थ प्रत्यायक है—अन्विताभिधानवादियों के अनुसार वाक्य से ही अर्थ का बोध होता है, कोई शब्द स्वयं अर्थ बोध न कराने में समर्थ नहीं होता। शब्द किसी वाक्य में प्रयुक्त होकर ही अर्थ का प्रत्यायक होता है और पदों से अर्थ प्रतीति का कारण संकेतग्रह या शक्तिग्रह है। शक्तिग्रह के आठ साधनों[2] में 'व्यवहार' को ही इन लोगों ने प्रमुख माना है। इस व्यवहार की प्रक्रिया अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिये।

व्यवहार में देखा जाता है कि उत्तमवृद्ध (पितादि) मध्यमवृद्ध (बालक से बड़े भाई आदि) गाय आदि किसी पदार्थ को लाने के लिये एक वाक्य का प्रयोग करता है। पास में स्थित बालक 'गामानय' आदि पदों को सुनता है और मध्यमवृद्ध (बड़े भाई या नौकर द्वारा) का सास्नालाङ्गूल—ककुद विशिष्ट एक पिण्ड विशेष को लाता हुआ नेत्रों से प्रत्यक्ष रूप में देखता है। उत्तमवृद्ध के वाक्य और मध्यमवृद्ध के 'गो आनयन' रूप क्रिया से अनुमान करता है कि उत्तमवृद्ध के कहे गये वाक्य का यही अर्थ होता है। इस प्रकार सास्नादिमान

१ वाक्यार्थेन व्यवहार—वृत्ती पृ० १६६
२ शक्ति ग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारश्च वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

पिण्ड का आनयन रूप स्थूल अर्थ ग्रहण करता है। इसके उपरान्त कहे हुए वाक्य और उसके अर्थ में अखण्ड रूप से वाच्य वाचक सम्बन्ध अर्थापत्ति प्रमाण से मानता है। इस प्रकार अन्वित पदार्थ का वाक्यार्थ रूप में ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे तीन प्रमाणों की आवश्यकता होती है। प्रभाकर ने कहा है कि 'बालक, वृद्ध व्यक्ति उसके द्वारा कहे हुए वाक्य और कही हुई वस्तु को प्रत्यक्ष रूप मे देखता और सुनता है। श्रोता की क्रियाओं से वाक्य का अर्थ अनुमान द्वारा लगा लेता है तथा वाक्य एवं अर्थ में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है, ऐसा अर्थापत्तिप्रमाण से जानता है। इस प्रकार तीन प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति से वह व्यवहार द्वारा संकेत ग्रहण करता है।''[1]

पुन दूसरे वाक्य में गाय के स्थान पर अश्व' आनय का प्रयोग अथवा 'आनय' के स्थान पर 'जघान का प्रयोग होता है। या 'गां नय' जैसे वाक्य का प्रयोग होता है। इस प्रकार उन उन पदार्थों का ले आना और ले जाना प्रत्यक्ष रूप से देखता है और अन्वय-व्यतिरेक बुद्धि से शब्द के विभिन्न प्रयोगों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अन्त में निर्णय हो जाता है कि अर्थ का ज्ञान कराने वाला वाक्य ही होता है। इस प्रकार व्यवहार द्वारा अर्थ ज्ञान अन्वित पदार्थ का ही होता है, केवल पदार्थ का ही नहीं। मम्मट ने इसका स्पष्टीकरण काव्य प्रकाश के पाचवें उल्लास में किया है।

खण्डन —प्रभाकर के मत में अभी बताया गया है कि पदार्थान्वित में शक्तिग्रह होता है और उन सामान्य अन्वित पदार्थ का पर्यवसान विशेष अन्वित में होता है।

अतः यह निर्णय निकला कि विशेष में पर्यवसित होने वाले सामान्य विशेष रूप पदार्थ ही संकेत का विषय है और अभिधा शक्ति द्वारा ही इसका बोध होता है इसमें कई शंकाएँ हैं—

(१) बालक को वाक्य का अर्थ ज्ञान होता है तो वाक्यान्तर में प्रयुक्त उसी शब्द का ज्ञान कैसे हो पाता है? जैसे 'गामानय' में गाम पद और गानय में 'गाम पद दोनों एक हैं परन्तु दो वाक्यों में दो भिन्न शब्दों द्वारा आनय और नयति उस अर्थ ज्ञान कैसे होता है? दूसरे वाक्य में— गां नय और

---

१ शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति। श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्व मनुमानेन चेष्टया। अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्। अर्थापत्त्यावबोधेत सम्बन्धत्रिप्रमाणकम्॥

प्रभाकर भट्ट

अश्व नय– में गाय को ले जाने की क्रिया से अश्व को ले जाने की क्रिया का बोध कैसे हो पाता है ? इस शंका के समाधान के लिए प्रभाकर ने सामान्य और विशेष इन दो तत्वों की कल्पना की है। दूसरे वाक्य में प्रयुक्त इन्हीं शब्दों को 'प्रत्यभिज्ञा' से हम पहचान लेते हैं। ऐसा होने पर पदार्थान्तर मात्र से अन्वित होकर ही संकेत का ग्रहण होता है। फिर भी सामान्य से आच्छादित विशेषरूप में ही पदार्थ प्रतीत होते हैं।[1] अर्थात् नय' आदि क्रियाओं का किसी विशेष वाक्य में प्रयोग होने पर वह पद 'तत्तत' विशिष्ट हो जाता है, परन्तु बालक को उसका ज्ञान सामान्य रूप में ही होता है। इस प्रकार प्रत्येक पद का ज्ञान सामान्य रूप में होता हुआ भी विशेष प्रसंग में विशिष्ट रूप में ही होता है। इन सामान्य विशेष रूपों की चर्चा करते हुए भी प्रभाकर ने सामान्य रूप में अर्थ का ही समर्थन किया है। अतः यही इनके मत से वाच्यार्थ है और संकेत ग्रह सामान्य रूप अर्थ में ही होता है।

ध्वनिवादियों का मत (१) अब ध्वनिवादियों का यह कहना है कि प्रभाकर के मत से जब सामान्य रूप अर्थ का ही ग्रहण अभिधा से होता है और विशेषरूप अर्थ उसकी सीमा में परे है तो अतिविशेषभूत जो व्यङ्ग्यार्थ है उसकी प्रतीति तो अभिधा से हो ही नहीं सकती है।[1]

(२) अतः दोनों ही मत (*अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद*) में वाक्यार्थ अवाच्य ही रहता है अर्थात् अभिहितान्वयवाद में अन्वित अर्थ और अन्विताभिधानवाद में पदार्थान्वित अर्थ वाच्य अर्थ है वाक्यार्थ तो अन्वित विशेष अर्थ होता है जो अवाच्य है और अभिधा से व्यक्त नहीं होता। ऐसी दशा में अतिविशेषभूत जो प्रतीयमान अर्थ है वह तो कभी भी अभिधा द्वारा बोध्य नहीं हो सकता है।[2] अर्थात् अन्विताभिधानवादियों के इस सामान्य विशेष रूप को न मान कर यदि किसी एक ही अर्थ विशेष के

---

१ 'देवदत्त गामानय इत्यादि वाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्यत समयमघारयतीतिअन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोग योग्य मिति" का० प्र० पृ० ३०

२ का० प्र० पृ० ३०

१ तेपामपिमते सामान्यविशेषरूप पदार्थ सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तगतो मकेतितत्वादवाच्य एव यत्रपदार्थप्रतिपद्यते तत्र दूरे अर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्याद विद्यादेश्चर्चा। का० प्र० पृ० ३०

२ का० प्र० पृष्ठ २२८

साथ सम्बद्ध रूप से शब्द का सकेत मान लिया जाय, तो अन्य विशेष अर्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा । और ऐसी दशा में अन्य विशेष अर्थों के साथ सकेतग्रह के लिए अलग अलग सकेतग्राहकों की कल्पना करनी पड़ेगी। जिसमें 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष उत्पन्न हो जायगा। अत यह निर्णय निकला कि अन्विताभिधानवाद में विशेष अर्थ के साथ अन्वितरूप में सकेतग्रह मानना सम्भव नहीं है तो विशेषरूप इस वाक्यार्थ से भी आगे व्यंग्यार्थ का अभिधा से बोध केवल कल्पना मात्र कहा जायगा।

(३) व्यजना विरोधी निमित्तवादी मीमासकों का तीसरा मत —

पूर्व पक्षी का मत— मीमासकों का यह वर्ग प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए कारण कार्य भाव की स्थापना करता है। इनके अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई निमित्त कारण होता है। इस दृष्टि से प्रतीयमान अर्थ का भी निमित्त अवश्य होगा। इस अर्थ की प्रतीति में शब्द को ही इसका कारण मानना चाहिए। अत शब्द और उसके अर्थ में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होगा, और इसमें अभिधा वृत्ति ही काम करती है। इसलिए व्यञ्जना व्यापार का मानना व्यर्थ है।

(ii) व्यञ्जनावादी भी शब्द से ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति मानता है जो अभिधाश्रित होकर ही बोध का कारण बनता है। उसका शब्द के अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त नहीं है। इस निमित्त के दो रूप– 'कारक रूप' और 'ज्ञापक रूप' माने जाते हैं। शब्द कारक रूप नहीं है। अत व्यंग्यार्थ के प्रति शब्द का ज्ञापक या बोधक रूप ही मान्य होना चाहिए और यह रूप बोध्य बोधक भाव रूप बिना सकेतग्रह के सम्भव नहीं है तथा सकेतग्रह शब्द की अभिधाशक्ति से ही हो सकता है। अत जब अभिधा से ही सकेतग्रह शब्द और अर्थ में बोध्यबोधक भाव और शब्द का अर्थ के प्रति ज्ञापक रूप तथा अभिधा द्वारा ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव है तो व्यञ्जना शक्ति मानना एक व्यर्थ का प्रयास है।

इस मत में यह बताया गया है कि शब्द रूप निमित्त के द्वारा ही व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक की प्रतीति होती है, और जब शब्द और व्यंग्यार्थ में निमित्त नैमित्तिक भाव स्थिर होता है [illegible] के अतिरिक्त व्यञ्जना की आवश्यकता ही क्या है ?

'(१) शब्द के जो [illegible] बताये गये हैं, [illegible] होवे [illegible] बन सकता है, [illegible] गया है।

संकेतग्रह अन्वित मात्र से होता है। इस प्रकार शब्द से ज्ञापकत्व रूप निमित्त ही बनता है और यह संकेतग्रह से होता है। मीमांसकों के अनुसार सामान्य रूप से अन्वितमात्र में संकेतग्रह होता है, विशेष में संकेतग्रह नहीं होता है। अतः निमित्तरूप शब्द का जब तक सामान्य से परे विशेष के साथ निमित्तत्व स्थिर नहीं होता है अथवा अतिविशेष भूत नैमित्तिक व्यंग्यार्थ के प्रति सम्बन्ध या संकेतग्रह नहीं होता, तब तक अभिधा के द्वारा नैमित्तिक व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती है। अर्थात् जब तक शब्द रूप निमित्त का विशेष के साथ संकेतग्रहण माना जाय, तब तक उससे विशेष अर्थ (नैमित्तिक) की प्रतीति कैसे हो सकती है? अतः नैमित्तिक अर्थ के अनुसार निमित्त की कल्पना होती है।[1] ऐसा कहना अविचारपूर्ण है।[1]

(ii) शब्द का ज्ञापक निमित्त अर्थ के प्रति दीपक द्वारा अन्धकार में पड़े घड़े के ज्ञापन के समान है। जैसे घट की स्थिति पहले से ही रहती है और दीपक केवल अपने प्रकाश द्वारा उसे व्यक्त कर देता है। इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ को शब्द बतलाता नहीं है, अपितु व्यक्त करता है। इस कारण से शब्द कारक निमित्त तो नहीं हो सकता है। ज्ञापक निमित्त के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि ज्ञापक किसी पूर्व सिद्ध वस्तु का ही होता है, व्यंग्यार्थ पहले से सिद्ध भी नहीं होता क्योंकि व्यंग्यार्थ का ज्ञान तो वाच्यार्थ ज्ञान के उपरान्त सहृदय के हृदय में उत्पन्न होता है। अतः शब्द को व्यंग्यार्थ का निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। इसलिये मीमांसकों का यह मत है कि नैमित्तिक के अनुसार ही निमित्त की कल्पना होती है और व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक के लिए शब्द रूप निमित्त अभिधा व्यापार से ही प्रतीयमान अर्थ का बोध कराता है— खण्डित हो जाता है तथा व्यञ्जना नामक शक्ति की स्थापना हो जाती है।

(घ) भट्ट लोल्लट का मत और व्यञ्जना— दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार—इनके अनुसार जिस उद्देश्य से किसी शब्द को बोला जाता है, वही उसका अर्थ है अर्थात् किसी भी वाक्य से जितने प्रकार के अर्थों की प्रतीति

---

१ तत्रनिमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ?
शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं ज्ञापकत्वं तु अज्ञातस्य कथं, ज्ञातत्वं च संकेतेनैव स चान्वितमात्रे एवं च निमित्तस्य नियत निमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" इत्यविचारितमभिधानम्।
का० प्र० प० उ०।

होती है, वह सब अभिधा का ही व्यापार है, वह सभी अर्थ कवि के तात्पर्य का विषयभूत अर्थ है इसके दो अंश है।

(१) जिस अभिप्राय से किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही उसका अर्थ होता है। अतः व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है। यही 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थः' का अर्थ है अर्थात् यदि केवल वाच्यार्थ का ज्ञान कराना ही किसी उक्ति का उद्देश्य है तो वही उसका तात्पर्य है और यदि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का बोध भी इष्ट है तो शब्द के प्रयोग का वाच्यार्थ वही होगा। इस प्रकार अभिधा की परिधि में सभी प्रकार वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ सभी आ जाते हैं।

(२) अभिधा शक्ति एक अर्थ को बता देने के उपरान्त क्षीण नहीं होती है, अपितु तीव्र वेग से चलाये गये बाण के समान कई कार्यों का सम्पादन करती है। जैसे बाण अपने वेग के कारण शत्रु का कवचभेद, हृदय विदारण और प्राण हरण क्रमशः कर लेता है उसी प्रकार अभिधा भी अपने दीर्घ दीर्घतर व्यापार से शब्द के द्वारा पदार्थोपस्थिति, अन्वय बोध और व्यंग्य प्रतीति तीनों कार्यों का सम्पादन करती है। अतः व्यंग्य प्रतीति के लिये व्यञ्जना जैसी किसी अन्य शक्ति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। अभिधा से ही वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहे जाने वाले सभी अर्थों का ज्ञान हो जाता है।

(१) उत्तरपक्ष (ध्वनिवादियों द्वारा इसका खण्डन)—आचार्य मम्मट ने भट्ट लोल्लट के इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि उन्हें 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थः' का वास्तविक ज्ञान नहीं है क्योंकि भट्ट के अनुसार 'तात्पर्य-वाचो युक्ति का यह अभिप्राय है कि वाच्यार्थ में ही लक्ष्य और व्यंग्य सभी अर्थों का समावेश हो जाता है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। आचार्य मम्मट ने बताया है कि वेद पर आधारित मीमांसा शास्त्र जिन वैदिक विधिवाक्यों को अभिधेय रूप में मानता है, उनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि वैदिक कर्म काण्डों में प्रमाणान्तर से जितना अंश अप्राप्त होता है, उतने ही अंश का ज्ञान 'अदग्ध दहन न्याय' से किया जाता है अर्थात् जैसे लकड़ी का न जले अंश का ही दहन अग्नि से होता है। उसी प्रकार अप्राप्त अंश का विधान करना ही वैदिक विधि वाक्यों का मूल उद्देश्य होता है। इस प्रकार अप्राप्त अंश के बोधन में ही विधि वाक्यों का तात्पर्य होता है और यही यत्परः शब्दः स शब्दार्थः का तात्पर्य है। उदाहरण के लिये वैदिक वाक्यों को ही लिया जा सकता है। यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग कामः" में होम क्रिया का विधान है। 'दध्ना जुहोति' में होम के साधन रूप द्रव्य का विधान है, और होम तो

पहले स ही प्राप्त है। सोमेन यजेत' मे 'द्रव्य' और 'याग' दोनो ही अप्राप्त होने से दोनो का ही विधान किया गया है। इसी प्रकार "लोहितोष्णीषा ऋत्विजा प्रचरति" जसे वाक्य मे केवल पगडी के रग 'लोहितत्व का ही विधान है। इस प्रकार जहाँ पर जितना अश अप्राप्त होता है, उतने का ही विधान करना यत्पर शब्द स शब्दार्थ' का तात्पय है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं लगाया जा सकता है कि लक्ष्याथ और व्यग्याथ सभी वाच्याथ में ही आते हैं। इस प्रकार य मीमासक अपने शास्त्र का भी अथ सम्यक नहीं जानते वास्तव म इसका यह अथ हुआ कि सिद्ध पद जो अक्रिया रूप और वाक्य का उद्देश्य माना गया है, वह भव्य' अर्थात क्रियारूप साध्य विधेय पद का साधक होता है यदि दोनो का एक साथ उच्चारण किया जाय अर्थात सिद्धपद साध्य पद के अग रूप म कहा जाय, तो इस प्रकार क्रियाभाग रूप विधि अगो की ही प्रधानता होती है क्योकि उसी के द्वारा विधि निषेध का कथन होता है। यही भूत भव्याय उपादिश्यत का अथ है। वदिक वाक्यों मे सवदा क्रिया रूप विधेयाश की प्रधानता होती है। इस मत का समथन मीमासा सूत्र में भी किया गया है।[1] निरुक्तकार यास्क के मत से भी आख्यात पद मे क्रिया की प्रधानता होती है।[2] आचाय मम्मट न भी इसका समथन किया है।[3] भूत भव्याय समुच्चारणे भूत भ याथायोपदिश्यते।'

इस प्रकार मीमासक मत स दो बातें प्रकट हुई। (१) प्रथम–विधि वाक्यों म मुख्य रूप से क्रिया का ही विधान किया जाता है। (२) द्वितीय–अदग्ध दहन याय से प्रमाणान्तर स जितना अश अप्राप्त है, उसी का बोध कराना उतने का ही विधान करना यत्पर शब्द स शब्दाथ का अथ होता है। यह मत स्थिर होने पर इसका खण्डन आसानी स हो जाता है। इस मत के अनुसार यदि सभी अथ वाच्याथ हो जाय तो फिर लक्ष्याथ मानने की भी क्या आवश्यकता रह जाती है। और (२) इस मत के अनुसार वाक्य में जितने शब्दों का प्रयोग होता है, उन्हीं शब्दो के विशेष अर्थो म ही शेष शब्दों का तात्पय माना जाता है अथात् कथित शब्दो के अर्थों मे ही तात्पय हो सकता है, अकथित शब्दों के अर्थो मे नहीं। किन्तु यग्याथ का जो बोध होता है, उसके बोधन के

---

१ आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमासा १ १ २१

२ भावप्रधानमाख्यानम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि। तद्यत्र उभे भाव प्रधाने भवत। निरुक्त

३ काव्य प्रकाश प० उल्लास पृ० २३३।

लिए कोई भी शब्द वाक्य में उपात्त (कथित) नहीं होता है। अत वाक्य में अकथित शब्द के अर्थ में शब्द का तात्पर्य कभी नहीं माना जा सकता है। अत मीमांसकों का यह मत मान्य नहीं कहा जा सकता है और यत्पर शब्द स शब्दार्थ वाला नियम इस अर्थ में उचित नहीं है। अत व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जनाशक्ति का मानना आवश्यक है क्योंकि अभिधा द्वारा इसका बोध नहीं हो पाता है। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि न तो यह मत युक्ति संगत ही है और न मीमांसक सिद्धान्त के अनुकूल ही है। इसलिये वाक्य में कथित शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य हो सकता है, किसी अन्य प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ मात्र में यह तात्पर्य नहीं हो सकता है। यदि बिना वाचक शब्द के ही किसी प्रकार के अर्थ में तात्पर्य मान लिया जाय तो 'पहला आदमी दौड़ता है' में पहले का अर्थ दूसरा भी लगाया जा सकता है, जो न्याय संगत नहीं है। इसलिये प्रतीतिमात्र में तात्पर्य नहीं मान सकते हैं। व्यंग्यार्थ में भी वाक्य में उसका कोई वाचक शब्द कथित न होने में वह तात्पर्य का विषय होकर वाच्यार्थ के अन्तर्गत नहीं आ सकता है।

पूर्व पक्ष की दूसरी शंका—यह है कि 'विष खालो, पर इसके घर भोजन न करना' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि इसके घर भोजन नहीं करना चाहिये अर्थात् शत्रु के घर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है—यही इसका वाक्यार्थ है परन्तु विष खाने का वाक्य में कथन नहीं है।

इसका उत्तर मम्मट ने देते हुए कहा है कि 'विषं भक्षय' इस वाक्य का तात्पर्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः', इस उपात्त शब्द के अर्थ में ही है। अकथित शब्द के अर्थ में नहीं है 'चकार' द्वारा दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सिद्ध की गई है। इसलिये इसके प्रथम भाग 'विषं भक्षय' का तात्पर्य शत्रु गृह में भोजन करना विष भक्षण से भी बुरा है अतः इसके घर में नहीं खाना चाहिये—इस वाक्यार्थ में निकलता है। दोनों की एक वाक्यता के कारण उपात्त शब्द से ही यह अर्थ सिद्ध होता है अनुपात्त शब्द में नहीं।

पूर्वपक्ष—व्यञ्जना विरोधी पुनः कहता है कि जहाँ दो तिङन्त वाक्य होते हैं उनमें अंगांगि भाव मानकर उनमें एक वाक्यता की स्थापना नहीं की जा सकती है। उपर्युक्त वाक्यों में दो क्रियापद 'भक्षय' और 'भुङ्क्थाः' हैं। अत दोनों स्वतन्त्र वाक्य हुए और इनमें आया हुआ 'च' कार एक वाक्यता का सूचक नहीं है। इसलिये वाक्य में कथित शब्द के अर्थ में तात्पर्य नहीं माना जा सकता है।

समाधान—'विष भक्षय' वाक्य एक 'सुहृद् वाक्य' है, और कोई भी मित्र किसी को विष खाने की सलाह नहीं दे सकता है। अत यदि इसे पूर्ण वाक्य मान लिया जाय, तो अर्थ अनुपपन्न रह जाता है। अर्थात् मित्र के द्वारा कहे हुए इस वाक्य की उचित सगति नहीं बैठ पाती है। इसलिये यह वाक्य अपने में पूर्ण अर्थ की अप्राप्ति के कारण—अनुपपन्नार्थ होने के कारण दूसरे वाक्य 'मा चास्य गृहे भुक्थाः' का अंग बन जाता है। इस प्रकार इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध हो जाने पर कथित उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है इस कथन की सगति भी बैठ जाती है।

अत सिद्ध हुआ कि वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य का निर्णय होता है जिस अर्थ का वाचक शब्द वाक्य में कोई होता ही नहीं है, ऐसे अनुपात्त शब्द में तात्पर्य का निर्णय नहीं हो सकता है। व्यंग्यार्थ प्रतीति में उस अर्थ का द्योतक कोई शब्द नहीं होता है। अत शब्द के प्रयोग न होने पर यत्पर शब्द स शब्दार्थ का सिद्धान्त इस व्यंग्यार्थ में सफल नहीं हो पाता है। इसलिए अभिधा द्वारा इसकी प्रतीति भी नहीं मानी जा सकती है।

दूसरी शंका और समाधान—मीमांसक के अनुसार यदि सभी शब्दों से अर्थ ग्रहण में अभिधा का ही व्यापार मानकर उसे वाच्यार्थ कहा जाय तो 'हे ब्राह्मण तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ' वाक्य से हर्ष तथा 'तुम्हारी अविवाहिता कन्या गर्भिणी हो गई' वाक्य से शोक की जो व्यञ्जना होती है उसे भी वाच्य अर्थ ही मानना पड़ेगा परन्तु मीमांसक ऐसा नहीं मानते। ये वाक्य हर्ष और शोक की उत्पत्ति के कारण है। मुख विकासादि से ही इसका ज्ञान होता है, साक्षात् शब्द से नहीं।

दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त वाक्यों में हर्ष और शोक का वाचक कोई शब्द भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। अत अप्रयुक्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य का निर्णय कैसे सम्भव हो सकता है?

(iii) यदि दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार से ही सब प्रकार के अर्थों का ज्ञान हो जाता है तो ऐसी दशा में यदि व्यञ्जना मानना आवश्यक नहीं है, तो मीमांसक लक्षणा को भी क्यों मानते हैं? और तात्पर्या शक्ति भी मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है। लक्षणा का कार्य भी तो अभिधा के इसी दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार लक्षणा को मानकर और व्यञ्जना को न मानने वाली बात युक्ति सगत नहीं प्रतीत होती है क्योंकि इच्छानुसार अर्थ को अभिधा शक्ति के कार्य व्यापार के अन्दर समेट लेने वाला

नियम तो दोनो के लिये समान होना चाहिए। अत मीमांसकों की इस उक्ति म सार्थकता नही है।

(१४) मीमांसा शास्त्र म श्रुति लिंग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्या इन छ प्रमाणो मे पूव पूव की बलवत्ता मानी गई है।[1] अब प्रश्न यह है कि यदि आपके कथन के अनुसार अभिधा व्यापार से ही सभी प्रकार के अर्थों की प्रतीति हो जाती है तो (क) न तो लक्षणा मानने की ही आवश्यकता है और (ख) न श्रुति आदि प्रमाणो की प्रबलता दुबलता का ही प्रश्न उठता है।

(४) महिमभट्ट ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि बाण के समान शब्द व्यापार को नही माना जा सकता है। शब्द की प्रवृत्ति सकेत सापेक्ष होकर ही अपना काय करती है। अत अभिधेयार्थ मे ही इसका व्यापार होगा अनभिधेय अथ मे नही। प्रतीयमान अथ अनभिधेय अथ है।[2]

धनजय, धनिक और व्यजना—धनञ्जय न भी व्यञ्जना का निराकरण किया है। उन्होने स्थायिभाव और रस के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए कहा है कि वाक्य मे दो प्रकार की क्रियाएँ (१) वाच्या और (२) अश्रूयमाणा होती हैं। ये अश्रूयमाणा क्रिया भी प्रकरणादि वश अ य कारकों से सम्बद्ध होकर वाक्याथ के रूप मे प्रतीत होती है। इसी प्रकार विभावादिको स सम्बद्ध होकर रत्यादि स्थायीभाव भी वाक्याथ रूप म प्रतीत होते हैं। इनम विभावादि पदाथ स्थानीय माने जाते है अर्थात् पदार्थों के ससग बोध के समान तात्पर्या शक्ति स ही उनका बोध होता है।[3] इस प्रकार कारक परिपुष्ट क्रिया ही वाक्याथ या काव्य का तात्पय है। अर्थात जसे प्रकरणादि के कारण अश्रूयमाण क्रिया भी कारकादि के द्वारा अविनाभाव से स्पष्ट हो जाता है उसी प्रकार काव्यों म भी प्रकरणादि के आधार पर ही वा य के द्वारा वाच्य रूप मे अभिहित विभावादि के साथ स्थायीभाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण रत्यादि स्थायीभाव चित्त मे स्फुरित होने लगता है। विभावादि का का य म साक्षात शब्द से उपादान होता ही है। ये सस्कार परम्परा द्वारा विभावो के पूर्वानुभव

१ श्रुति लिंग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानां समवाये पारदौबल्य अथ विप्रकर्षात्। मीमांसा दशन ३, ३ १४।

२ व्यक्ति विवेक प्रथम विमश १

३ वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्याथ कारकयु क्ता स्थायीभावस्तथेतर।
दशरूपक ४/३७ धनञ्जय

के आधार पर रत्यादि स्थायीभाव को पुष्ट करते हैं। अत काव्य के वाच्य रूप म उपात्त विभावादि द्वारा प्रतीत अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ रूप म प्रतीत रत्यादि स्थायीभाव व्यञ्जनाशक्ति का विषय न होकर का य का वास्तविक वाक्याथ ही है।[1]

(i) इस कारिका की व्याख्या करते हुए धनिक न कहा है कि तात्पय का क्षेत्र बडा व्यापक है, वह कोई तराजू पर तौला हुआ एसा पदाथ नही है कि इतना ही हो। वह तो यावत्कायप्रसारी है अथात जहाँ जसी और जितनी आवश्यकता होती है उसी के अनुसार ही तात्पय का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।[2]

(ii) प्रतीयमान अथ तात्पय से भिन्न नही है। अत उसका बोध केवल व्यञ्जना से ही हो ऐसा नही कहा जा सकता है और उसका व्यञ्जक वाच्य ध्वनि भी है। तात्पय आवश्यकतानुसार घट बढ भी जाता है। अत व्यञ्जना का मानना ठीक नही है।

(iii) ध्वनिवादी न व्यग्याथ बोध के लिये कक्षा विभाग किया है अर्थात प्रथम कक्षा म वाक्य म प्रयुक्त पदो से अथ की प्रतीति होती है, इस वाच्याथ कहा गया है, द्वितीय कक्षा म तात्पर्याथ वाक्य अन्वय घटित होकर प्रकरण के अनुकूल अथ का बोध कराता है। इसे वाक्याथ की सज्ञा दी जाती है। ततीय कक्षा म लक्ष्याथ और चतुथ कक्षा म व्यग्याथ को रखा गया है। इस कक्षा विभाग द्वारा भी तात्पय की शक्ति कुण्ठित नहीं होती है और चतुथ कक्षा निविष्ट व्यग्याथ तक तात्पय की पहुँच होती है। अत व्यग्य अथ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नही है, वह तात्पय की सीमा के ही अ तगत आ जाता है।

(iv) धनिक ने आगे बताया है कि लौकिक या वदिक सभी प्रकार के वाक्यो म कायपरता होती है। यदि ऐसा न हो तो वह उ मत्त प्रलपित हो जाय। अत उनका कोई न कोई तात्पय अवश्य होता है।[3] काव्य म प्रयुक्त शब्दों का तात्पय उनके निरतिशय रसास्वाद म ही है, जिसके लिये शब्द का

१ दशरूपक अवलोक टीका पृष्ठ २४६–२४७

२ तात्पय व्यतिरिक्तत्वात व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनि ।
यावत कायप्रसारित्वात तात्पय न तुलाधृतम् ।
दशरूपक अवलोकटीका

३ तथाहि पौरुषयमपौरुषेय वा वाक्य सव कायपरम् अतत्परत्वे नुपादय त्वादु मत्तादि वाक्यवत । दशरूपक–अवलोक टीका पृ० २४७

जो प्रयोग होता है, वही उसका अर्थ भी है। इस प्रकार प्रयुक्त शब्दों से जो रसानुभूति होती है, धनिक मत में वही उस वाक्य का तात्पर्य है और इसका बोध तात्पर्या शक्ति से ही होता है।

(५) वक्ता जब भी किसी लौकिक वाक्य का प्रयोग करता है तो वह कुछ कहना चाहता है अर्थात सभी वाक्य विवक्षा के आधीन हैं।[1] काव्य में भी रसादि अर्थ वक्ता के अभिप्रेत होने से उन्हें तात्पर्य ही कहेंगे। अतः सिद्ध हो गया कि काव्य तथा रस के साथ व्यंग्य व्यञ्जक सम्बन्ध नहीं है, अपितु भाव्य भावक भाव का सम्बन्ध है। काव्य भावक है और रसादि भाव्य है। रसादि सहृदय के हृदय में अपने आप स्वयं उद्भूत होते हैं और विशिष्ट विभावादि जो तत्तत रसों के अनुकूल होते हैं—उनके द्वारा काव्य उनकी भावना कराता है।[2]

धनिक मत का खण्डन—विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में धनिक के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि धनिक ने जिस तत्परत्व की चर्चा की है उसका क्या अर्थ होता है? सामान्यतया इसके दो अर्थ हो सकते हैं (१) तदर्थत्व अर्थात उस शब्द का अर्थ होना (२) उस अर्थ का द्योतन करने में तात्पर्यशक्ति का समर्थ होना।

इन दोनों में यदि पहला विकल्प को लें तो व्यञ्जना वृत्ति भी तो उस अर्थ का द्योतित करती है। अतः इसमें कोई अन्तर नहीं होगा। और यदि तात्पर्याशक्ति की बात ली जाय तो भाट्ट मीमांसकों के प्रसंग में उसका खण्डन किया जा चुका है। अभिहितान्वयवाद में मान्य तात्पर्याशक्ति का कार्य उपस्थित पदार्थों का संसर्ग बोध कराना है। इस प्रकार द्वितीय कक्षा विशिष्ट संसर्ग बोध तक ही उसकी सीमा है व्यंग्य तो चतुर्थ कक्षा का विषय है जहाँ तक उसकी पहुँच नहीं हो सकती है। अतः यह निर्णय निकला कि धनिक की तात्पर्याशक्ति का यावत्कार्यप्रसारी है अर्थात आवश्यकतानुसार दूर स्थान पर

---

१ पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते।
दशरूपक अवलोक पृ० २५१

२ अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्य भावक सम्बन्धः? काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते। दशरूपक अवलोक पृ० २५१– २

पहुँच सकती है—अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्या से भिन्न ही है। अत ऐसी दशा में इस तात्पर्याशक्ति और ध्वनिवादियों की व्यञ्जना शक्ति में केवल नाम मात्र का भेद हुआ। इस प्रकार व्यञ्जनावादी और तात्पर्यवादी के शब्द की वृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता। अत अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से अतिरिक्त चौथी वृत्ति का समर्थन हो गया। 'तत प्रष्टव्यम् किमिति तत्परत्व नाम तदर्थत्व वा तात्पर्यवत्त्यातद्बोधकत्व वा ? आद्ये न विवाद, व्यङ्ग्योपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु केय तात्पर्याख्या वृत्ति —अभिहितान्वयवादिभि रङ्गीकृता वा तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्। द्वितीये तु नाम मात्र विवाद तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धि ।'[1] इस चौथी वृत्ति को चाहे तात्पर्याशक्ति कह या व्यञ्जना, इसके मूल रूप और कार्य म कोई अन्तर नहीं आता।

अभिधावादियों म मुकुल भट्ट का भी नाम लिया जाता है। इन्होने अपने ग्रन्थ 'अभिधावृत्ति मातृका' म लक्षणा के छ भेद और अभिधा के चार भेद करने के उपरान्त उन सब का समावेश अभिधा म ही कर दिया है। और अभिधा के दस भेदों का स्वीकार किया है।[2] लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी वक्ता, वाक्य और वाच्य सामग्री के ज्ञान के आधार पर ही होती है। सच तो यह है कि सभी मीमांसक वेद पर निर्भर रहते हैं और वेद को प्रभु सम्मत कहा जाता है अर्थात् राजाज्ञा के समान उसका अन्य कोई अर्थ न ग्रहण करके सीधा अर्थ ही लिया जाता है। इसी से वहाँ जो कुछ है सब अभिधेय ही है। लक्षणा का का अवसर बहुत कम है तथा उनके अनुसार व्यञ्जना तो है ही नहीं। इस मत का निराकरण भी उपर्युक्त उक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ तक सभी मीमांसकों (कुमारिल, प्रभाकर, भट्टलोल्लट, मुकुलभट्टादि) तथा धनञ्जय और धनिक के मतों का निराकरण करते हुए व्यञ्जना शक्ति की स्थापना की गई। अब अगली पंक्तियों म व्यञ्जना विरोधी अन्य मतों का विवेचन किया जायगा।

वेदान्तियों का मत—इन मतों में विशेषत अखण्डतावादी वेदान्ती और वैयाकरण मतों की चर्चा की जाती है। वेदान्तियों के अनुसार जगत मिथ्या है इसी से धर्म धर्मिभाव किया कारक भाव वाच्य, लक्ष्य व्यंग्यादि सब कुछ मिथ्या है। यह अखण्ड बुद्धि से ही सम्भव है। वेदान्तियों म 'सत्य

१ साहित्य दर्पण परिच्छेद ५ पृ० २६६–७० हरिदासी सस्करण

२ इत्येतदभिधावृत्त दशधात्र विवेचितम्। अभिधावृत्तिमातृका। कारिका १२

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों का अखण्ड बुद्धि से ही ग्रहणीय 'पर ब्रह्म' उसका अर्थ होता है। इस प्रकार अखण्ड बुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है और अखण्ड वाक्य ही उसका वाचक होता है। अतः अखण्ड वाक्यार्थ बोध मानने से वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य की अलग अलग प्रतीति नहीं होती है। इसके अनुसार पदार्थ संसर्ग होने से नहीं, अपितु स्वरूप मात्र का बोधक होने से वाक्य अखण्डार्थक हो जाता है।[1]

खण्डन—यदि वेदान्तियों की अखण्डता को स्वीकार कर लिया जाय तो सर्व प्रथम तो सभी प्रकार की शक्तियों का लोप हो जाता है। (२) ये वेदान्ती भी व्यवहार में आकर जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं और वैयाकरण भी व्यवहार के लिये पद में प्रकृति प्रत्यय के व्यवहार को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार लौकिक व्यवहार में जगत की सत्ता भी माननी पड़ती है तथा व्यवहार दशा में वर्ण पद वाक्यादि की भी अलग-अलग स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ती है। अतः विभिन्न शब्द शक्तियों के मानने में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। भर्तृहरि ने भी कहा है कि—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।[2]

वेदान्तियों ने जहाँ पारमार्थिक रूप में सब कुछ असत्य माना है वहीं पर व्यवहार दशा में उन्हें भी अभिधा तथा लक्षणा जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा मानना ही पड़ा है। अतः जब अभिधा और लक्षणा का विभाग हो ही सकता है, तो व्यञ्जना का विभाग भी करने में अनुचित न होगा।

अतः व्यञ्जना का मानना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार अभी तक जो भी विचार हुआ है, वह सभी वृत्तियों के आधार पर किया गया है। इसमें वृत्तियों से हटकर अखण्डार्थ के आधार पर विचार किया गया है। आगे व्यंग्यार्थ को अनुमान का विषय बताने वाले महिम भट्ट के विचारों का उत्तर दिया जायगा।

अनुमानवादी महिम भट्ट और व्यंजना

महिम भट्ट - व्यञ्जना के विरोधियों में महिम भट्ट का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इन्होंने व्यञ्जना की व्याख्या करते हुए 'व्यक्ति विवेक' नामक एक पूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। अन्य विरोधियों ने तो प्रसंगतः इसका खण्डन कर दिया है। इस व्यक्ति विवेक की दो टीकायें या विवृत्ति प्राप्त हैं। प्रथम राजानक रुय्यक का 'व्यक्ति विवेक व्याख्यान' और दूसरी मधुसूदन शास्त्री की मधुसूदनी विवृत्ति'।

अनुमान द्वारा व्यंग्यार्थ बोध—इस ग्रन्थ द्वारा प्रथम बार व्यंग्यार्थ बोध के लिए शब्द की सीमा से हट कर उसे अनुमान का विषय सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। महिम भट्ट ने ध्वनिवादियों द्वारा दिये गये सभी उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। व्यंग्यार्थ को उन्होंने 'परार्थानुमान रूप' माना है। उन्होंने ध्वनि के लक्षण का प्रथम विमर्श में खण्डन किया है। द्वितीय विमर्श में ध्वनि की परिभाषा में प्रक्रम भेद' और पुनरुक्ति आदि दोषों की चर्चा की गई है, और तृतीय में ध्वनिकार के सभी उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिये उसके हेतु को ढूँढने का प्रयास किया है। इसका सारांश यह है कि विभावानुभाव आदि की प्रतीति से ही रस की प्रतीति होती है। अतः विभावादि रस प्रतीति के साधक लिङ्ग हुये। इस प्रकार अनुमान द्वारा इस साधक लिंग की सहायता से रस की सिद्धि की गई है। उनके अनुसार पंचावयव युक्त अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा— 'राम सीता विषयक रतिमान तत्र विलक्षणस्मितकटाक्षवत्वात् यो नैवं सो नैवं यथा लक्ष्मण' इस प्रकार के सभी अनुमान वाक्यों को समझने के लिये आवश्यक है कि न्यायशास्त्र में वर्णित अनुमान प्रमाण और उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझ लिया जाय।

अनुमान स्वरूप —अनुमान के स्वरूप का निर्धारण करते हुए बताया गया है कि लिंग परामर्श' को अनुमान कहते हैं। जिससे अनुमिति हो उसे अनुमान कहते हैं और लिंग परामर्श से अनुमिति होती है, अतः लिंग परा

मश को अनुमान कहते है। अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है और उसका करण धूमादि है। अत धूमादिज्ञान, अग्निआदि ज्ञान का करण होने से अनुमान है। वात्स्यायन ने अपने भाष्य म बताया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिंग के द्वारा अर्थ के पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का अनुमान कहते हैं।[1] अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा किसी अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होना ही अनुमान कहा जाता है इसम एक वस्तु की सहायता से दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है। इसे ही नयायिक 'व्याप्ति' कहते हैं। अर्थात साहचय के नियम को ही व्याप्ति कहते है।[2] जसे— यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्नि इस साहचय नियम को व्याप्ति कहते हैं।

लिंग का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि लीनम अथ गमयति इति लिंगम' अर्थात गुप्त अथ का जो प्रत्यक्षीकरण कराये उसे लिंग कहते है, तथा लिंग का ततीय ज्ञान परामश है[4] अथवा व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धमता ज्ञान को परामश कहते हैं। उदाहरण के लिए घर म प्रथम बार या द्वितीय बार अग्नि धूम का साहचय 'प्रथमदशन' है। इस व्याप्ति ग्रहण क उपरान्त पवतादि मे धूम दशन द्वितीय ज्ञान है। इस द्वितीय दशन से धूम और अग्नि के प्रथम साहचय की स्मति हो जाती है। और यह ज्ञान हो जाता है 'वह्निव्याप्य धूमवाश्रयाय पवत है। ऐसी को ततीय ज्ञान कहते हैं और यही अनुमिति क प्रतिकरण (साधन। होन स अनुमान कहा जाता है।

इस ततीय ज्ञान क दो अग है। प्रथम व्याप्ति सम्बन्ध और दूसरा पक्ष धमता—अर्थात् धूम का पवत रूप पक्ष म अस्तित्व होना। इस प्रकार ज्ञात हो गया कि जहा जहाँ धूम है वहाँ अग्नि का होना अनिवाय है। यही विचार 'परामश' कहा जाता है। परार्थानुमान (जहाँ दूसरों को अनुमान कराया जाता है) इसम इस परामश का महत्वपूर्ण स्थान है। इस ज्ञान क सम्बन्ध म केशव मिश्र ने भी इसका समथन किया है।[5]

---

(१) लिंग परामर्शोऽनुमानम्। दनहि अनुमीयते तदनुमानम्। लिंग परामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंग परामर्शोऽनुमानम्। तर्क भाषा—अनुमाननिरूपणम्—पृष्ट ७१-७२

(२) मितेन लिंगेन अर्थस्य अनुपश्चान्मानमनुमानम् न्याय दशन-वात्स्यायनभाष्य १।१।३

(३) साहचय नियमो व्याप्ति—तर्कभाषा पृ० ७२

(४) लिंगस्य तृतीय ज्ञान परामर्श। तर्कभाषा ७२

(५) तदनेन साधन धूमाग्न्यो व्याप्तौ गृह्यमाणाया महानसे यद्धूम ज्ञान तत्प्रथमम। पवताग्नौ प क्षे यद्धूमज्ञानम तद्द्वितीयम। तत

जहाँ संदिग्ध अर्थ के प्रति स्वयं अनुमान उपयुक्त सरिणि से किया जाता है वहाँ स्वार्थानुमान[1] और जहाँ दूसरों को इसका बोध कराया जाता है वहां परार्थानुमान[2] कहा जाता है। इस परार्थानुमान के लिए प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन कहते हैं। उदाहरणों द्वारा तर्क संग्रह में बताया गया है कि प्रतिज्ञादि ये परार्थानुमान के पाँच अवयव होते हैं। यथा —

(१) प्रतिज्ञा—	पर्वतो वह्निमानिति—	इस पर्वत में अग्नि है।
(२) हेतु—	धूमवत्त्वादिति —	क्योंकि वहां धुंआ है।
(३) उदाहरण—	यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानस इत्युदाहरणम् —	और जहां जहां धूम होता है वहाँ वहां अग्नि होती है। जैसे रसोई में।
(४) उपनय—	तथा चायमिति—	यह भी वैसा ही है।
(५) निगमन—	तस्मात्तथा —	अतः यह पर्वत भी उसी प्रकार है अर्थात अग्नि पूर्ण है।[3]

इस प्रकार व्यक्त हुआ कि परामर्श के कारण होने वाले ज्ञान को 'अनुमिति' कहते हैं और उस ज्ञान का प्रमाण अनुमान कहा जाता है। इस अनुमान में व्याप्ति अर्थात साहचर्य नियम का होना आवश्यक बताया गया है। यह व्याप्ति कई प्रकार की होती है।

पूर्व दृष्टां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तदनन्तरं च पर्वते धूमं परामृशति। अस्त्यत्र सर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानम् तृतीयम्। तर्कभाषा—७७

(१) स्वार्थं स्वप्रतिपत्ति हेतुः —पृष्ठ ७६

(२) यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमायपरं बोधयितुं पञ्चावयव मनुमान वाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। — तर्कभाषा— पृ० ८०

(३) प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः इत्युदाहरणम्। तर्क संग्रह—पृष्ठ ६

इस व्याप्ति के ३ भेद अन्वय व्याप्ति, व्यतिरेक व्याप्ति तथा अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति कहे गये हैं। जैसे जहाँ धूम है वहां अग्नि होती है इसे अन्वय व्याप्ति कहते हैं। तथा जहां धूम नहीं है, वहाँ अग्नि नहीं होती इसे व्यतिरेक व्याप्ति कहा जाता है। अन्वय व्याप्ति में जो व्याप्त (हेतु) धूम होता है, उसका अभाव व्यतिरेक व्याप्ति में व्यापक (साध्य–अग्नि) होता है। तथा जो व्यापक होता है उसका अभाव वहां व्याप्य होता है। कुमारिल भट्ट ने भी इसका समर्थन किया है।[1] व्यतिरेक व्याप्ति के संग हेतु और साध्य का सम्बन्ध पाया जाता है जैसे पृथ्वी से भिन्न तत्व में गंधत्व नहीं है जैसे जल में। अन्वय व्यतिरेक का हेतु वहां होता है जहां पर अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों का ही उदाहरण एक साथ मिल जाय। धूमवत्व अन्वय व्यतिरेक का हेतु है। व्याप्ति को बोलते समय व्याप्य का और व्यापक को याद में यत्र यत्र तथा तत्र तत्र के साथ बोलना चाहिए जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है।

हेतु के पाच रूप—इस प्रकार तीन प्रकार के हेतुओं की चर्चा की गई है। अब यह बताया जायगा कि हेतु के पांच रूप होते हैं। इनमें से यदि एक भी रूप की कमी हो जाय तो इसे शुद्ध हेतु न कह कर 'हेत्वाभास' कहते हैं और ये अपने साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाते हैं।[2] इन पांचों रूपों को क्रमशः पक्षत्व, सपक्षत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्ष कहते हैं।

इनमें संदिग्ध साध्यवान् पक्ष अर्थात साध्यवह्नि संदिग्ध अवस्था में हो, वहां पक्ष होगा। जैसे पर्वत में अग्नि है क्योंकि यहां धूम है।' इस उदाहरण में पर्वत में अग्नि का सिद्ध किया गया है अतः पर्वत पक्ष' होगा। 'निश्चित साध्यवान सपक्ष' अर्थात जिसमें साध्य वह्नि आग्नि का निश्चय हो—निश्चित साध्य से युक्त धर्मी को सपक्ष कहते है। जैसे उपर्युक्त अनुमान

---

१ व्याप्यव्यापकभावोहि भावयोर्यादृगिष्यते तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीत प्रतीयते। अन्वये साधनं व्याप्य साध्यं व्यापकमिष्यते। तदभावोऽन्वया व्याप्यो व्यापकं साधनात्यय। व्यापकस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य तत परम्। एवं परीक्षिता व्याप्ति स्फुटीभवति तत्वत —श्लोकवार्तिक—१२१–१२३

२ एतेषां त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमत, नत्वेकेनापि रूपेण हीन —तर्कभाषा—पृ० ८६।

मे रसोईघर सपक्ष है। क्योंकि उसमे अग्नि का निश्चय है। इस 'सपक्ष रूप' महानस (रसोईघर) मे धूम रूप हेतु हुआ। क्योंकि रसोई घर म धूम और अग्नि का नियतसाहचर्य देखा जाता है। अन्वय व्याप्ति म इसी 'सपक्ष' को उदाहरण के रूप म रखा जाता है। "और निश्चित स ध्याभाववान विपक्ष।" अर्थात विपक्ष म साध्य का अभाव निश्चित होता है। 'व्यतिरेक व्याप्ति म यही विपक्ष' 'उदाहरण रूप म रहता है। 'जसे जहाँ-जहाँ धूम का अभाव है, वहाँ वहाँ अग्नि का भी अभाव होता है। जसे तालाब म।' यहाँ तालाब विपक्ष है। क्योंकि तालाब म साध्य रूप अग्नि का अभा निश्चत है। और इसमे धूम भी नही रहता है। इस विपक्ष कहते हैं।[१]

इसी प्रकार 'धूमवत्वहेतु अबाधित विषय। क्योंकि धूमत्व हेतु का विषय अग्निमत्व पवत रूप पक्ष म किसी प्रमाण स बाधित नही हैं। असत्प्रतिपक्षत्व भी धूमत्व म ही है। इसका अथ हुआ—जहा प्रतिपक्ष अविद्यमान है। इस प्रकार जहाँ पाचों हेतु होते हैं वहाँ शुद्ध हेतु कहा जाता है और किसी भी एक के न रहने पर हेत्वाभास कहा जाता है।[२] केवल अन्वयी हेतु विपक्ष रहित चार हेतुओ से युक्त होता है और केवल व्यतिरेकी सपक्ष रहित चारों रूपों से युक्त होता है।

हेत्वाभास—अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि अनुमान में हेतु का बहुत अधिक महत्व है। अत पञ्चावयव युक्त हेतु का होना आवश्यक है। इनमे एक की भी कमी रहने से उसे अशुद्धहेतु कहते हैं। ये हेतु के समान प्रतीत तो होते हैं परन्तु वास्तव म इह हेतु न कहकर अशुद्ध हेतु या हेत्वाभास कहा जाता है। इन्हे दुष्ट हेतु की सज्ञा भी दी गई है। अनुमान द्वारा प्रतीयमान अथ का बोध कराने वाले व्यञ्जना विरोधी महिम भट्ट की अनुमान प्रक्रिया मे इस प्रकार का दोष वतमान है जिसका खण्डन मम्मट न इसी आधार पर किया है। अत इन हेत्वाभासों को समझ लेना प्रस्तुत प्रसग के अथ ग्रहण करने मे सहायक सिद्ध होगा।

---

१ सन्दिग्ध साध्यव न पक्ष । यथा धूमवत्वे हेतौ पवत । निश्चित साध्यवान सपक्ष । यथा तत्र व महानस । निश्चितसाध्याभाववान विपक्ष । यथा तत्रव महाह्रद । तर्क सग्रह पृ० ४३ ३४ तर्कमार्गी–०७ ।

२ तर्क भाषा पृ० ८६ यस्त्व गे अहेतुरितियावत ।

इस हेत्वाभास के पाँच भेद किये गये हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक प्रकरणसम (बाधित विषय) और कालात्ययापदिष्ट (सत्प्रतिपक्ष)।

असिद्धहेत्वाभास – इसमें असिद्ध हेतु वह हो जिसकी स्थिति ही न हो इसके ३ भेद आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध हैं।

जिस हेतु का आश्रय या पक्ष ही न हो उसे आश्रय सिद्ध हेत्वाभास कहते हैं जैसे—*आकाश कमल सुर्गंधित होता है। कमल होने से, सरोज कमल के समान है* परन्तु इस वाक्य में आकाश कमल हेतु का आश्रय पक्ष—उसकी स्थिति ही नहीं होती है।[1] अतः आश्रय-पक्ष—के न रहने से अनुमान प्रतीत होता हुआ भी यह केवल हेतु का आभास मात्र है, और इसे आश्रय सिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। स्वरूपासिद्ध का आश्रय तो होता है परन्तु उस आश्रय में हेतु नहीं रहता है। 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः'। जैसे शब्द *"अनित्य है चाक्षुष होने से, घटत्व के समान,' अनुमान वाक्य में शब्द का हेतु* चाक्षुष बताया गया है जो असत्य है। क्योंकि पक्ष-आश्रय रूप शब्द नेत्र ग्राह्य नहीं होता, श्रवण ग्राह्य होता है।[2] अतः असिद्ध हो जाता है। यहाँ स्वरूपा *सिद्ध है।*

व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का होता है। (१) व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के अभाव में। (२) उपाधि के सद्भाव में। इसमें व्याप्ति की सिद्धि *नहीं रहती अर्थात उपाधि से युक्त हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं जैसे—पर्वत में* आग होने से धुआ है' वाक्य में धूम का व्याप्ति सम्बन्ध केवल अग्नि से नहीं माना जा सकता है। जब तक कि गीली लकड़ी की अग्नि न हो अतः लकड़ी *का गीली होना यहाँ उपाधि के रूप में है।*

(२) विरुद्ध हेत्वाभास—साध्य के विपरीत (विपर्यय-अभाव) के साथ व्याप्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।[3] जैसे शब्द नित्य है जन्य (कार्य) होने से,' *वाक्य में जितनी भी वस्तुएँ कार्य होती हैं वह सभी अनित्य होती हैं।* शब्द भी कार्य है अतः वह भी अनित्य होगा। यहाँ जन्यत्व का जो हेतु दिया गया *है वह साध्य (नित्यत्व) के साथ ठीक नहीं बैठता है अपितु विरुद्ध पड़ता है।* अतः विरुद्ध हेत्वाभास होगा।

---

१ आश्रयासिद्धो यथा ... सच नास्त्येव। तर्कभाषा पृ० ६१

२ स्वरूपासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात घटवत। अत्र चाक्षुषत्व हेतु में च शब्दे नास्त्येव, तस्यश्रावणत्वात।

३ तर्कभाषा—अनुमाननिरूपणम् पृष्ठ ६४

(३) सव्यभिचार—(अनर्कांतिक) हेत्वाभास—जो हेतु पक्ष, विपक्ष सभी मे रहता हो उसे अनर्कांतिक हेत्वाभास कहते है। नियम के अनुकूल विपक्ष मे उसे नहीं रहना चाहिए। जैसे शब्द 'नित्य' है। ज्ञातव्य होने के कारण आकाश के समान यह दुष्ट हेतु है। क्योंकि ज्ञातव्य पदार्थ तो अनित्य है।[1] यहा प्रमेयत्व हेतु नित्य अनित्य सभी मे रहता है। अत यह ठीक नही हुआ।

(४) सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास—जहा अन्य प्रमाण से साध्य का अभाव निश्चित हो अर्थात तुल्य बल वाले दो विपरीत हेतुओं के होने पर ही बाधित विषय होता है। जस शब्द 'अनित्य' है नित्यधर्म रहित होने के कारण। शब्द नित्य है, अनित्य धर्म रहित होने के कारण। अनुमान मे पहले वाक्य मे नित्य धर्म रहितत्व ये दोनो हेतु एक दूसरे के साध्य से विपरीत अर्थ का सिद्ध करना चाहते हैं। अर्थात शब्द मे नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों की सिद्धि इन दो अनुमान वाक्यों से ओतप्रोत है। अत तुल्य बल विरोधी हेतु होने से सत्प्रतिपक्ष है।

(५) बाधित विषय—जहाँ साध्य का अभाव किसी अन्य प्रबलतम प्रमाण से निश्चित हो जाय, वहाँ बाधित विषय कहा जाता है। जैसे अग्नि उष्णता रहित है, कृतक जन्य होने से जल के समान अनुमान में अग्नि का उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण (त्वचाओ के स्पर्श से हो) से प्रमाणित है। यहाँ साध्य अनुष्णत्व का अभाव अर्थात उष्णता का अग्नि में होना प्रमाणित है। अत यह बाधित विषय हेत्वाभास हुआ।[2]

इस प्रकार संक्षेप मे अनुमान की प्रक्रिया का ज्ञान हो जाने पर महिम भट्ट द्वारा व्यञ्जना का विरोध समझना सरल हो जायगा। महिम भट्ट ने भी प्रतीयमान अर्थ की स्थिति को स्वीकार किया है। तथा यह भी मान लिया है कि वाक्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ मे चमत्कार अधिक रहता है। उन्होंने कहा है कि वाच्य अर्थ उतना आस्वादक नही होता है जितना प्रतीयमान अर्थ[3]

---

२ तर्कभाषा—पृष्ठ ६४

३ यथाअग्निरनुष्ण कृतकत्वाज्जलवत। अत्रहि कृतकत्वस्य हेतो साध्य मनुष्णत्व तदभाव प्रत्यक्षेणैव धारित स्पर्शन प्रत्यक्षेणोष्णत्वो पलम्भात" तर्कभाषा। ६५।

१ ध्वनित विवेक—पृष्ठ ७३

इतना मानकर भी इस प्रतीयमान अर्थ को बताने में शब्द की किसी शक्ति का समर्थन न करके वे इसे अनुमान का विषय मानते हैं, और अपने ग्रन्थ में उन्होंने बताया है कि व्यंग्यार्थ अनुमेयार्थ ही है।[२]

दो प्रकार के शब्द—महिम भट्ट के अनुसार शब्द वाच्य और अनुमेय दो ही प्रकार के हो सकते हैं। इनमें वाच्य अर्थ ही मुख्य अर्थ होता है, क्योंकि शब्द व्यापार से इसका सीधा अर्थ होता है। प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के द्वारा अनुमित होता है। इस प्रतीयमान अर्थ रूप हेतु से जिसकी अनुमिति होती है उसे अनुमेय अर्थ कहते हैं। वस्तु अलंकार रूप अर्थ तो वाच्य भी हो सकता है, परन्तु रस सदा ही अनुमेय होता है।[३] इस प्रकार ध्वनिकार के पद चिह्नों पर चलते हुये व्यञ्जना जैसी पगडंडी पर ही इनका विरोध प्रतीत होता है। मम्मट ने भी रसादि रूप अर्थ को स्वप्न में भी वाच्य नहीं माना है।[४]

महिम भट्ट ने बताया है कि वस्तुतः रसादि रूप अनुमेय अर्थ व्यञ्जित नहीं होता है। इनमें भी धूमाग्नि के समान गम्य गमक का भाव होता है। परन्तु अपनी तीव्रता के कारण भ्रम से लोग इसे व्यंग्य व्यञ्जक भाव मान लेते हैं। *वस्तु और अलंकार रूप अनुमेयार्थ में गम्य-गमक भाव स्पष्ट दीख* पड़ने से व्यंग्य व्यञ्जक भाव मानने की आवश्यकता ही नहीं है। वैयाकरणों के ध्वनि और स्फोट रूप अर्थ में ध्वनि रूप शब्द अनुमापक और स्फोट रूप अर्थ अनुमाप्य है। अतः यह अर्थ अनुमाप्य हुआ। और उसका बोध कराने वाला व्यापार अनुमान ही कहा जायेगा।[५] मम्मट ने भी पूर्व पक्ष के रूप में इसे उपस्थित करते हुए कहा है कि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। यदि ऐसा मानें तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। इस प्रकार गम्य गमक भाव व्याप्ति के बिना निश्चित ही नहीं

---

२ अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्। व्य० वि० १/१

३ तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूतादर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः, वस्तुमात्रमलङ्काराः रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अयं त्वनुमेय एवेति। 'व्यक्ति विवेक पृ० ३९

४ सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा, व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथाहि किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चिदन्यथा। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। का य प्रकाश पंचम उल्लास पृ० २१७

५ व्यक्ति विवेक पृ० ५७

हो सकता है। अतः व्याप्ति युक्त और नियत धर्मो (पक्ष) में रहने के कारण तीनों रूपों वाले (पक्ष सपक्ष, विपक्ष) धूमादि रूप हेतु के समान लिङ्ग से लिङ्गी (वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान उसी रूप में व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का पर्यवसान होता है[1] अर्थात् लिङ्ग के तीन रूप पक्ष विपक्ष और सपक्ष, इन तीन रूपों से युक्त हेतु शुद्ध हेतु है। और एक की भी न्यूनता से हेत्वाभास होता है। इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मतायुक्त तथा त्रिरूप विशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान का ही अनुमान कहा जाता है। तथा व्यंग्य अर्थ की प्रतीति भी व्याप्ति सम्बन्ध और पक्ष धर्मता के बिना सम्भव नहीं। अतः व्यंग्य व्यञ्जक भाव की प्रतीति अनुमान द्वारा ही सम्भव है।

उदाहरणों की अनुमान द्वारा सिद्धि —

महिम भट्ट ने ध्वनिकार के द्वारा दिये गये उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। ऊपर बताया जा चुका है कि व्याप्ति और पक्ष धर्मता, ये अनुमान के दो अंग हैं। अन्वय व्याप्ति भाव पदार्थों और व्यतिरेक व्याप्ति अभाव पदार्थों का होता है। जैसे— यत्र यत्र धूम तत्र तत्र वह्नि' अन्वय व्याप्ति और यत्र यत्र वह्न्यभाव तत्र तत्र धूमाभाव' यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई। महिम भट्ट ने ध्वनिकार द्वारा दिये गये गाथा में[2] गोदावरी तीर पर पण्डित जी के न जाने के लिये, इसी व्यतिरेक व्याप्ति का आश्रय लिया है। विधिरूप में भ्रमण वर्णन का कहा गया है। साथ ही सिंह कि उपस्थिति भी बताई गई है। 'पण्डित जी का भीरु व्यक्ति का भ्रमण तो तब बन सकता था जब भय का कारण वहां न होता। परन्तु वहाँ सिंह रूप भय का कारण विद्यमान है। इसलिये यहां भयकारणोपलब्धि रहने से साधनाभाव (अर्थात् भयकारणानुपलब्धि का अभाव, अर्थात भयकारणोपलब्धि पाया जाता है। उससे साध्य विधिरूप भ्रमण का निषेध भ्रमणाभाव ही सिद्ध हो सकता है।

इस गाथा में महिम भट्ट ने बताया है कि[3] वाच्य और प्रतीयमान दोनों ही अर्थ क्रमशः प्रतीत होते हैं। तथा धूम और अग्नि के समान इसमें साध्य साधन भाव है। कुत्ते के मारे जाने पर उसमें क्रूर सिंह की उपस्थिति भ्रमण का निषेध करती है, और इस निषेधार्थ की प्रतीति अनुमिति जन्य है। इसको

१ काव्य प्रकाश-पंचम उल्लास पृ० २५८

२ भ्रमधार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुडङ्गवासिना दृप्तसिंहेन॥ गाथा सप्तसती २/७५

३ व्यक्ति विवेक तृतीय विमर्श पृ० ४०० चौ० सं० सीरीज

अनुमान वाक्य मे इस प्रकार कहा गया है कि जहा जहाँ भय जनक वस्तु होगी वहाँ भीरु व्यक्ति नही जायगा। गोदावरी तीर पर भयकर सिंह है। अत भीरु भ्रमण अयोग्य है। इसे को निम्नलिखित वाक्यो मे स्पष्ट किया जा सकता है।

१ साध्य प्रतिज्ञा—	"गोदावरी तीर भीरु भ्रमणायोग्य"—	गोदावरी का तीर डरपोक के भ्रमण के अयोग्य है।
२ हेतु सधान—	"भयकारणसिंहोपलब्धेत् —	भय के कारण सिंह की उपलब्धि होने से।
३ यतिरेक व्याप्ति-	यद्यत् भीरु भ्रमणयोग्य तत्तद्भयकारणाभाववत यथा गृहम्	(जो जो भीरु के भ्रमण के योग्य है वह (स्थान) भय के कारण से रहित है जसे घर (लिङ्ग या हेतु)
४ उपनय—	"न चेद तीर तथा भयकारणाभाववत सिंहोपलब्धे'	(यह) तीर सिंह की उपस्थिति से भय के कारण के अभाव से मुक्त नही है।
५ *निगमन*—	"*तस्मात भीरु* भ्रमणायोग्यम्'—	*अत* भीरु के भ्रमण के अयोग्य है।

इस प्रकार पञ्चावयव युक्त अनुमान वाक्य द्वारा महिम भट्ट ने भ्रमण के निषेध को सिद्ध किया है। इसी बात को मम्मट ने पूर्व पक्ष के रूप मे उपस्थित किया है।[1] इस प्रकार व्यक्त हो गया कि घर म कुत्ते के भी न रहने से भ्रमण योग्य है। तथा गोदावरी तीर पर सिंह के रहने के ज्ञान के द्वारा भ्रमण के अभाव का अनुमान कराता है। इसे हेतु कहेंगे। व्याप्ति मे—जो जो भीरुओं के भ्रमण योग्य होता है वह भय कारण के अभाव के ज्ञान पूर्वक होता है। परन्तु गोदावरी तीर पर भय के कारण की उपलब्धि होने से साधन का अभाव माना जायेगा अत यहाँ साध्य भीरु भ्रमण के सम्बन्ध म भय के कारण के अभाव की उपलब्धि न होकर उसके विरुद्ध भय के कारण सिंह की उपलब्धि

---

१ "अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमण निहित गोदावरी तीरे सिंहोपलब्धेर भ्रमणमनुमापति। यद् यद् भीरुभ्रमण तत्तद्भयकारणनिवृत्युपलब्धि पूर्वकम् गोदावरी तीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापक विरुद्धोपलब्धि"
का० प्र० प० उ० पृष्ट २६०

होने से साधन का अभाव माना जायेगा। अर्थात अभाव साधक सिंह की उपलब्धि होती है। अतः यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर अनुमान के द्वारा भ्रमण के निषेध की प्रतीति हो जाती है। इसी से व्यञ्जना मानने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि उसका काम तो अनुमान से ही चल जाता है। इसी प्रकार ६ होने अन्य उदाहरणों को भी अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु ध्वनिवादियों मे आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने इसका खंडन किया है।

महिम भट्ट का खण्डन—

(१) भट्ट ने वाच्य और अनुमेय दो प्रकार के अर्थों को ही माना है। परन्तु व्यंग्यार्थ की स्थिति को भी उपचार वृत्ति द्वारा स्वीकार किया है। रसादि प्रतीति मे उसका व्यवहार भी पाया जाता है। इस प्रकार एक ओर व्यंजना को न मानना और दूसरी ओर व्यंग्यार्थ को स्वीकार करना स्पष्ट रूप से स्ववचन विरोध ही माना जायगा। इससे बचने के लिये उन्होंने रसादि रूप अर्थ के लिये व्यंग्य व्यंजक भाव को औपचारिक और भ्रान्तिजनक कहा है। यदि रसादि रूप व्यंग्यार्थ को भ्रान्तिजनक ही मान लें तो पुनः व्यंग्य अर्थ के उल्लेख का कोई महत्व नहीं रह जाता है। यदि उपचार से व्यंग्यार्थ को मानना ही है तो इसी के द्वारा व्यंजना शक्ति मानने मे भी कोई हानि नहीं होगी।

(२) महिमभट्ट ने प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ को अनुमेय मानकर उसका नाम 'काव्यानुमिति' दिया है। उन्होंने कहा है कि वाच्य द्वारा अनुमित अर्थ जब किसी दूसरे अर्थ का किसी सम्बन्ध से प्रकाशित करता है तो उसे 'काव्यानुमिति' कहते हैं। इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि महिम भट्ट ने काव्यानुमिति और ध्वनिवादियों के व्यंजना के मूल रूप मे कोई अन्तर नहीं है। केवल नाम मात्र का भेद है।

(३) ऊपर जो उदाहरण दिया गया है कि "राम सोमाविषयक रतिमान् तत्र विलक्षणा स्मित कटाक्ष वत्वात् या नव सो नव यथा लक्ष्मण" इसमे ध्वनिवादियों का यह कहना है कि इस अनुमान वाक्य में राम के मन में उत्पन्न सीता के प्रति रति के अनुमान का ज्ञान होता है। परन्तु इस ज्ञान को 'रस' संज्ञा नहीं दी जा सकती है। रस सहृदयो के हृदय में उत्पन्न एक अलौकिक आनन्द है। व्याप्ति न होने से उसका बोध अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है। और नैयायिकों ने रसबोध को जो अनुमान या स्मृति का विषय माना है। तथा इस प्रकार व्यंजना का निराकरण किया है। उस सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहना है कि (१) दूसरे की वनि का अनुमान लगा देना ही रस

नही कहा जायगा, अपितु आत्मा की अलौकिक आनन्दानुभूति ही रस है, और यह अनुमय नही है।

(ii) स्मृति सत्य ज्ञात वस्तु की होती है, अज्ञात की नहा। तथा इससे साक्षात्कार की उत्पत्ति नही होती है अपितु अतीत की देखी सुनी या समझी हुई वस्तु का वर्तमान म ध्यान मात्र ही आ जाता है। रस की स्थिति केवल अनुभव दशा म ही रहती है पूर्व या पश्चात् नहा। अत रस अनुमय नही हो सकता है उसे तो व्यजना का ही व्यापार मानना होगा। जिसको महिम भट्ट अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं वह रस म भिन्न कुछ और ही पदार्थ है। इस प्रकार रस की सिद्धि अनुमान द्वारा न होकर रस से भिन्न पदार्थ की सिद्धि होती है।

(४) ऊपर धार्मिक वाले प्रसग म अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति भी ठीक नही बैठती हैं। जिस 'भ्रमधार्मिक' गाथा मे महिमभट्ट धार्मिक क भ्रमण क निषेध को अनुमान का विषय बनाना चाहते हैं। उस अनुमान का स्वरूप "गोदावरी तीर धार्मिक भीरु भ्रमणायोग्य सिंहवत्वात् यन्नव तन्नव यथा गहम्' इस प्रकार होगा। इस उदाहरण म सिंहवत्वात' हेतु और भीरु भ्रमणायोग्यत्व साध्य होगा। अर्थात जहा जहाँ भय का कारण होगा वहाँ वहाँ भीरु भ्रमण के अयोग्य होगा, यह व्याप्ति बनती है। परन्तु व्यवहार म हम देखते हैं कि भय का हेतु होते हुये भी भीरु व्यक्ति गुरु क आदेश या राजा की आज्ञा से युद्ध क्षेत्र मे जाता है, अथवा प्रिया के अनुराग से अथवा इसी प्रकार के अन्य हेतुओ से भय युक्त स्थान पर भी जाता है। अत इसमें व्याप्ति पूर्ण न होने से अनुमान का ठीक रूप नही कहा जा सकता है।

(ii) इस प्रकार इसम शुद्ध हेतु न होकर हेत्वाभास है। इस हेतु मे (१) अनकान्तिक (२) विरुद्ध (३) स्वरूपासिद्ध ये तीन प्रकार क हेत्वाभास हैं। प्रथम अनकान्तिक हेत्वाभास है क्योंकि जहाँ जहाँ भीरु भ्रमण होता है, वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव ही हो ऐसी व्याप्ति नही होती है। भय के स्थानो पर भी भीरु किसी कारण वश जाते ही है। अत अनकान्तिक[1] हेतु है।

(iii) इस उदाहरण म गोदावरी तीर 'पक्ष' है। उसमे 'सिंहोपलब्धि रूप हेतु का होना आवश्यक है, परन्तु परयेक वचन प्रमाण ही हो, ऐसी 'व्याप्ति'

१ भीरुरपि गुरो प्रभोर्वानिदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चवमूतेन हेतुना सत्यपि भय कारणे भ्रमतीत्यनकान्तिको हेतु। का० प्र० प० उ० पृष्ठ २६१

नही होती हैं। अत केवल उसी के कथन मात्र स सिंह की उपस्थिति को प्रमाणिक नही माना जा सकता हैं। इस प्रकार गोदावरी तीर पर सिंह की सत्ता सदिग्ध है। और इस हेतु (सिहोपलब्धि) का पक्ष (गोदावरी तीर) म निश्चय न होने से स्वरूपसिद्ध[1] नामक हेत्वाभास है।

(४) कुत्ते से डरते हुये भी वीरता के कारण सिंह से नही डरता है, इस कारण विरुद्धहत्वाभास[2] है। प्रत्यक शुद्ध हेतु के लिय आवश्यक है कि पक्षसत्व सपक्षसत्व और विपक्षव्यावतत्व तीनो रूप हो। इनमें से एक के भी न होन से वह हत्वाभास हो जाता है। जो हेतु पक्ष मे न हो, वह स्वरूपासिद्ध और जो विपक्षव्यावृतत्व' धम रहित हो उसे 'अनकान्तिक' हेत्वाभास कहते हैं। इस प्रकार इस उदाहरण म इन कमियो के कारण भ्रमण निषेध का ज्ञान अनुमान द्वारा नही माना जा सकता है। अन्य उदाहरणो को भी इसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि वे अनुमेय न होकर व्यञ्जनावृत्ति गम्य है। इसके लिय तो व्यञ्जनावृत्ति को मानना ही पडेगा।

इसके विपरीत व्यञ्जनावादियो के मत स व्याप्ति के बिना भी इस प्रकार का व्यंग्य अथ प्रकाशित होता है। अत अनुमान के द्वारा व्यंग्याथ की प्रतीति कभी नही हो सकती है और व्यञ्जनावत्ति उसके लिए अनिवाय है।[3] साथ ही व्यञ्जनावादियों ने पद, पदाथ अथ, वण सभी द्वारा' प्रतीयमान अथ का बोध माना है। परन्तु वस्तु अलकार और रस रूप प्रतीयमान की प्रतीति इनके द्वारा अनुमेय होने मे अनकान्तिक हेतु हो जायेगा। इसी से बाद के नयायिको ने अनुमान के अन्तगत व्यञ्जना को नही माना है। सक्षेप म केवल इतना ही कहना कि व्यञ्जना का अपलाप नही किया जा सकता है, और उसकी स्थिति तो माननी ही पडेगी।

---

१ गोदावरी तीरे सिंह सद्भाव प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चित अपितु वचनात न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्य सिद्धश्च। का० प्र० प० उ० पृष्ठ २६१

२ शुना बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरोद्धोऽपि। का० प्र० प० उ० पृष्ठ २६१

३ एव विधादर्थादिव विधो य उपपत्तितोऽसत्व हि प्रकाशत इति ध्वनितवादिन पुनरतद् अदूषणम —का० प्र० प० उ० पृ०२६२

लक्षणावादी और व्यंजना

व्यञ्जना का अपलाप करने के लिए इसके विरोधियों का एक और वर्ग रहा है। इन लोगों ने लक्षणा के द्वारा ही व्यंग्यार्थ बोध की बात को स्वीकार किया है। इनका कहना है कि व्यंग्य अर्थ का ज्ञान जब लक्षणा से ही हो सकता है, तो व्यंजना जैसी शक्ति को मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। जब हम किसी लक्षणा के शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उस शब्द द्वारा प्रयुक्त भाव विशेष की व्यञ्जना ही प्रयोता का मुख्य उद्देश्य होता है। जैसे—यदि 'सिंहो माणवक' अर्थात 'यह बच्चा शेर है' वाक्य को लें तो इसमें सिंह रूप लाक्षणिक प्रयोग का उद्देश्य बालक में शौर्य को दिखाना ही है। प्रश्न यह है कि इस शौर्य कार्य रूपी प्रयोजन विशेष का बोध शब्द की किस शक्ति द्वारा सम्भव है। प्रयोजन बोध के लिए व्यञ्जना नामक एक अन्य शक्ति का अस्तित्व मानना पड़ता है। विचारणीय प्रश्न है कि व्यञ्जना व्यापार का काम लक्षणा से चल सकता है या नहीं।

कई लोगों ने लक्षणा और व्यञ्जना को एक दूसरे से अभिन्न माना है। इनके मतानुसार भक्ति ही ध्वनि है। इस मत का खण्डन किया जा चुका है। अतः उसका पुनः खण्डन यहां पर व्यर्थ ही है। पाठकगण ध्वनिकार द्वारा "व्यञ्जना की स्थापना" शीर्षक वाले परिच्छेद में देखें। लक्षणा के अन्तर्गत प्रतीयमान अर्थ का बोध कराने वालों में मुकुल भट्ट का विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है। उनके अभिधावृत्ति मातृका में लक्षणा व्यापार द्वारा ही सभी प्रतीयमान अर्थ का बोध बताया गया है। कुन्तक ने भी 'वक्रोक्तिजीवितम्' में उपचार वक्रता के द्वारा प्रतीयमान अर्थ के ज्ञान की बात कही है। परन्तु इसके द्वारा केवल लक्षणामूला ध्वनि ही इसके अन्तर्गत आ सकती है।[1]

लक्षणावादियों का पूर्व पक्ष—इनके अनुसार लक्षणाव्यापार द्वारा ही व्यंग्यार्थ का बोध माना जायगा। लक्षणा के स्वरूप का निर्धारण करते

---

१ अलंकार सर्वस्व टीका पृ० ६ (रुय्यक के टीकाकार (समुद्रबन्ध)

हुए मम्मट ने कहा है कि इसका प्रथम हेतु 'मुख्यार्थ' का बाध होना है। अतः मुख्यार्थ की संगति उचित नहीं जान पड़ती है तभी हम उपचार की सहायता से उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ को ग्रहण करते हैं। यह अन्य अर्थ लक्ष्यार्थ कहा जाता है। और इसकी बोधिका शक्ति लक्षणा के नाम से अभिहित होती है। प्रतीयमान अर्थ को भी इसी प्रकार का समझना चाहिए, क्योंकि इसमें भी मुख्यार्थ की संगति ठीक न होने से प्रतीयमान अर्थ को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन लक्षणावादियों के अनुसार प्रतीयमान अर्थ भी लक्ष्यार्थ का एक अंग ही है। अतः इसका बोध लक्षणावादियों द्वारा ही हो सकता है।

इस मत का सर्वप्रथम खण्डन ध्वनिकार ने किया है। उन्होंने सर्वप्रथम ध्वनिविरोधी तीनों मतों (अभाववादी, अन्तर्भाववादी और भाक्तवादी (लक्षणावादी)) का उल्लेख करते हुए उन सबका खण्डन किया है। इसी प्रसंग में इसका विस्तार किया जा चुका है। आगे चल कर लोचनकार और मम्मट ने भी इस मत का विस्तार रूप से खण्डन किया है। यहाँ पर केवल मम्मट का ही सविस्तार विचार किया जायगा।

मम्मट द्वारा लक्षणावादी मत का खण्डन —

मम्मट ने लक्षणा के भेदों में रूढि और प्रयोजनवती लक्षणा का भी नाम लिया है और बताया है कि रूढि लक्षणा व्यंग्य से रहित और प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्य युक्त होती है।[1] इस प्रयोजनवती लक्षणा में शब्द का प्रयोग साधारण संकेतित अर्थ में न होकर मुख्यार्थ बाध के रूप में होता है, और उसके द्वारा वक्ता किसी अभिप्राय या प्रयोजन विशेष को व्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार लक्षणा के प्रयोग का उद्देश्य या साध्य वह प्रयोजन विशेष ही है और इसके सिद्धि का प्रधान उपकरण व्यंजना व्यापार है और वह साध्य अभिप्राय व्यंग्यार्थ होता है।

कुछ लोगों का इस स्थान पर यह कहना है कि रूढि और प्रयोजन को लक्षणा का हेतु मानना चाहिए।[2] उन्होंने 'गङ्गायां घोषः' (गंगा में अहीरों का घर है) वाक्य का उदाहरण देते हुए कहा है कि इस वाक्य में 'गंगायां' शब्द के द्वारा लाक्षणिक प्रयोग किया गया है उसका मूल अभिप्राय पुण्यत्व मनोहरत्व आदि [illegible] होता है। वह पुण्यत्व और मनोहरत्व अन्य शब्दों से (प्रामाण

१—व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने। का० प्र० २।१३ सू० १८

२—[illegible] रूढ्यादीनि [illegible] विनाकरो। अभिधावृत्तिमातृका—का० १० मुकुलभट्ट।

सकेतित) शब्द से ज्ञान न होने से अभिधा का व्यापार नहीं है और मुख्यार्थ बोध के कारण इसे लक्षणा का ही व्यापार कहेंगे।[1] इस प्रकार मुकुल भट्ट ने पुण्यत्व, मनोहरत्व रूपी साध्य को लक्षणा का ही प्रयोजन माना है, परन्तु ध्वनिवादी आचार्य इसकी प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से ही मानते हैं।

खण्डन —

यदि इस व्यंग्यार्थ रूपी साध्य का बोध लक्षणा से ही माना जाय तो इसके तीन विकल्प हो सकते हैं।

(१) लक्ष्यार्थ बोध कराने के बाद लक्षणा से प्रयोजन का बोध कराये।

(२) उस प्रयोजन को लक्ष्यार्थ ही माना जाय।

(३) यदि प्रयोजन लक्ष्यार्थ से भिन्न हो, तो प्रयोजन-विशिष्ट तट आदि की उपस्थिति लक्षणा से मानी जाय।

प्रथम विकल्प के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि एक बार लक्षणा जब लक्ष्यार्थ की प्रतीति करा देती है तो उसकी शक्ति का क्षय हो जाता है और उसमें इतनी शक्ति नहीं रह जाती है कि वह किसी और अन्य अर्थ का बोध करा सके। ऐसी दशा में व्यंग्यार्थ रूप प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा की शक्ति के बाहर का व्यापार है और उसकी प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से ही सम्भव हो सकती है।[2]

दूसरे विकल्प में प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने की बात कही गई है। परन्तु मुकुलभट्ट तट को लक्ष्यार्थ मानते हैं पुण्यत्व मनोहरत्वरूप प्रयोजन को नहीं। अतः प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। फलस्वरूप प्रयोजन का बोध केवल व्यञ्जना से ही हो सकता है अन्य किसी वृत्ति से नहीं।[3] क्योंकि—

१—अत्र च लक्षणायाः प्रयोजनं तटस्य गंगात्वेनाध्यवसायात् सन्निहितत्व पुण्यत्व मनोहरत्वादि प्रतिपादनम्। नहि तत् पुण्यत्वमनोहरत्वादि स्वात्मन स्पष्टं गमयति। अ० व० मा० का० १० की व्याख्या।

२—का० प्र० २।१८-१५।

३—अत्रहि गंगा-शब्दाभिधेयस्य स्रोतो विशेषस्य घोषाधिकरण त्वानुपपत्त्या मुख्य शब्दार्थ-बाधने योग्यो समीप समीपि भावात्मकः सम्बन्धस्तदाश्रयेण तट लक्षयति। अभिधावृत्तिमातृका

१—सकेत ग्रह न होने से अभिधा गम्य, यह प्रयोजन नहीं हो सकता है[1] अर्थात शब्द का जो साक्षात अर्थ होता है उसी का ज्ञान अभिधा से हो सकता है। और प्रयोजन का बोधक व्यग्यार्थ शब्द के साक्षात सकेत का विषय नहीं होता है। इस प्रकार गगाया घोष ' मे जिस पावनत्व आदि प्रयोजन को तट रूप लक्ष्यार्थ मे लक्षणावादी बताना चाहते हैं, उसमे गगा आदि शब्दों का सकेत नहीं है। अत प्रयोजन की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है।

२—हेतुओं के न रहने से इसे लक्षणा भी नहीं कह सकते हैं।[3] लक्षणा के तीन प्रकार के हेतु माने गये हैं—मुख्यार्थ बाध, उद्योग और रूढि या प्रयोजन में से अन्यतर होना। 'गगाया घोष ' का मुख्यार्थ' गगा मे (स्रोत) घर है'—होगा। लक्ष्यार्थ गगा तट पर घर है और प्रयोजन पुण्यत्व मनोहरत्व का बताना है।

अब प्रश्न यह है कि (i) यदि उस प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मान यानी पुण्यत्व मनोहरत्व रूप धर्म को लक्ष्यार्थ माना जाय (जसा कि लक्षणावादी कहना चाहता है) तो इसके पूर्व प्रतीत होने वाला वास्तविक लक्ष्यार्थ तट को मुख्यार्थ मानना पडेगा। पर तु वह मुख्यार्थ नहीं है।

(ii) यदि इस तट रूप वास्तविक लक्ष्यार्थ को हम मुख्यार्थ मान लें तो जिस प्रयोजन (पुण्यत्वादि) को आप लक्ष्यार्थ कहेंगे, उसका बोध होने के पहले तट रूप मुख्यार्थ का बाध होना चाहिए। पर तु उसका बाध भी नहीं है क्योंकि तट तो आधार बन ही सकता है। और उस पर घोष (बस्ती) का होना भी सम्भव है। अतः लक्षणा नहीं हो सकता है।

(iii) लक्षणा के लिए बताया गया है कि पहिले मुख्यार्थ बाध होना चाहिए और दूसरे मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्ब ध होना चाहिए। यदि शत्य पावनत्व या पुण्यत्वादि को लक्ष्यार्थ तथा तट को मुख्यार्थ मानें तो ऐसी दशा मे तट रूप मुख्यार्थ का शत्यादि रूप लक्ष्यार्थ से सम्ब ध होना चाहिए। पर तु शत्य पावनत्वादि का सम्बन्ध जल प्रवाह से होता है, तट के साथ नहीं अर्थात् शीतलता जल मे रहती है तट पर नहीं। अत लक्षणा का दूसरा

१—नाभिधा समयाभावात। का० प्र० २।१५।

२—हेत्वाभावान्न लक्षणा। का० प्र० २।१५।

३—का० प्र० २।१६।

कारण मुख्यार्थ सम्बन्ध भी ठीक नहीं बैठता है। दूसरे शब्दों में यहाँ कहा जा सकता है कि लक्षणावादी द्वारा शैत्य पावनत्वादि प्रयोजनों को लक्ष्यार्थ रूप में मान भी लेने पर उस फल का माने गये तट रूप मुख्यार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता है। इसीलिए इस दूसरे हेतु के अभाव में भी लक्षणा नहीं है।

(iii) लक्षणा के लिये रूढि या प्रयोजन में से किसी एक का होना आवश्यक हेतु माना गया है गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' पद तट रूप अर्थ में रूढ़ या प्रसिद्ध नहीं है। अतः रूढ़ होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। अब प्रयोजन वाली बात रह शेष जाती है। लक्षणावादी के अनुसार यदि शैत्य पावनत्वादि को हम लक्ष्यार्थ मान लें तो ऐसी दशा में रूढि के न होने से उसका कोई न कोई प्रयोजन मानना ही पड़ेगा परन्तु (क) इस फल के लिये किसी अन्य प्रयोजन को मानना उपयुक्त नहीं है।

(ख) और यदि लक्षणावादी प्रयोजन माने ही तो इस प्रथम प्रयोजन का कोई दूसरा प्रयोजन मानना होगा। हो सकता है कि आप उसे भी लक्ष्यार्थ कहें तो पुनः तृतीय प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार प्रयोजन की यह शृङ्खला अबाधित गति से ही बढ़ती ही चली जायगी। और "अनवस्था नामक दोष हो जायगा।[1] अतः एक प्रयोजन का द्वितीय प्रयोजन मानना न्याय संगत नहीं है। और रूढि तथा प्रयोजन में से किसी भी एक हेतु के न होने के कारण लक्षणा नहीं हो सकती है।

(iv) लक्षणा के लिये यह भी आवश्यक है कि शब्द अपने अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ नहीं हो। यदि शब्द असमर्थ हो जायगा तो लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। 'गङ्गायां घोषः' अर्थात् 'गङ्गा में घर' वाक्य से गंगा के तट पर घर अर्थ की प्रतीति कराने में पूर्ण रूप से समर्थ भी है। अतः शब्द के 'स्खलद्गति' अर्थात् अपने अर्थ को बताने में असमर्थता न होने से भी यहाँ लक्षणा प्रवृत्ति नहीं हो पाती है।[2] लक्षणा के लिये मुख्यार्थ बाध आवश्यक है। परन्तु कल्पित मुख्यार्थ तट में यह बाधा नहीं है। और इस प्रकार बिना

---

१ एवमप्यनवस्था स्याद् या मूल क्षयकारिणी। का० प्र० २/१७

२ लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।
का० प्र० २/१६ पृष्ट ७१

मुख्यार्थ बाध के हो शत्य, पावनत्व का बोध यदि हो तो शब्द की गति स्खलित नही मानी जाती है। अत लक्षणा मानने का प्रश्न ही नही उठता।

तीसरा विकल्प —

लक्षणा द्वारा इस प्रकार व्यंग्यार्थ बोध का निराकरण हो जाने पर लक्षणावादियो ने एक तीसरे विकल्प को समक्ष रखा है। इस विकल्प द्वारा व बताना चाहते हैं कि यदि ध्वनिवादी प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नही मानते हैं तो ऐसी दशा में शैत्य पावनत्व (शीतलता और पावनता) रूप प्रयोजन से युक्त ही तट की उपस्थिति लक्ष्यार्थ द्वारा मानी जानी चाहिए। इस प्रकार प्रयोजन विशिष्ट तटादि की उपस्थिति वे लक्षणा से मानते हैं।[1] अर्थात 'गगाया घोष' मे गगा का लक्ष्यार्थ केवल तट न होकर शैत्य पावनत्वादि युक्त गगातट होगा। इस प्रकार गङ्गा का तट पर घोष कहने से केवल एक सामान्य अर्थ का ही बोध होता है। और गगा म घोष कहने से शीतलता पावनता से युक्त तट रूप एक विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।

खण्डन—मम्मट ने प्रयोजन विशिष्ट तटादि का लक्षणा गम्य न मानते हुए कहा है कि प्रयोजन से युक्त (अर्थात शीतलता से युक्त) लक्ष्यार्थ मानना उपयुक्त नही है। क्योंकि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल, इन दोनों म अन्तर होता है।[2] अत दोनो एक साथ मिलाये नही जा सकते। उपर्युक्त उदाहरणों मे लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट है और इसका फल शीतल्वादि का बोध है। इस प्रकार विषय और फल मे पूर्व अपर भाव सम्बन्ध होने से दोनों कार्यकारण रूप आपस मे कहे जा सकते हैं। ज्ञान के विषय को 'कारण' और ज्ञान के फल को 'कार्य' कहते हैं। अत दोनों की प्रतीति एक साथ कभी नही हो सकती। अत प्रयोजन विशिष्ट लक्षणा वाला यह मत भी निराधार हो जाता है।

मम्मट ने यहाँ पर जो विषय और फल के ज्ञान के सम्बन्ध म उल्लेख किया है। उसका स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है। मीमांसा और न्याय-

---

१ ननु पावनत्वादि धर्म युक्तमेव तट लक्ष्यते । गगायास्तटे इत्यतो ऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा । 'तत्कि व्यञ्जनया' । का० प्र० द्वि० उ० पृ० ७५

२ प्रयोजनेन सहित लक्षणीय न युज्यते ।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य फलमन्यदुदाहृतम् ।
का० प्र० २/१७–१८ पृ० ७५–७६

दशन की सहायता स पूव रशी के मत का खण्डन किया गया है। नयायिको ने इसे 'प्रामाण्यवाद'[1] के अ तगत स्पष्ट किया है। जिसे 'अनुव्यवसाय या सवित्ति' कहत हैं।

नयायिकों का अनुव्यवसाय—ज्ञान क ज्ञान को अनु यवसाय कहते हैं। इसके अनुसार पहिले विषय रहता है और उसके बाद ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जसे, पहिले विषय घट आदि होते हैं। इस घट स पुन यह ज्ञान उत्पन्न होता है 'कि यह घडा है' इस ज्ञान क बाद 'मैं घट को जानता हू' या 'मैं इस घट का ज्ञानवान् हू' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार इसकी तीन सारणियाँ हैं (१) विषय की उपस्थिति (२) घट ज्ञान (३) घट ज्ञान का ज्ञान। इस प्रकार पहिले विषय की उपस्थिति होती है। दूसर क्षण म उस विषय का ज्ञान होता है। इस व्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं। इसक उपरान्त 'मैं घट जा ता हूँ'। इस ज्ञान का विषय घट ज्ञान है। इसम पहिल ज्ञान का विषय घट और दूसर ज्ञान का विषय घट ज्ञान है। इस ही घट ज्ञान कहते हैं। यह दूसरा ज्ञान पहिल ज्ञान का फल हुआ। इस प्रकार घट ज्ञान का विषय घट और उसका फल 'घटज्ञान' है। तथा इन दोनो की उत्पत्ति एक साथ न होकर इसमे पूवापर सम्बन्ध है। अत विषय और फल दोनो म निश्चित रूप स भिन्नता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल दोनो म अ तर है। प्रयोजन विशिष्ट लक्षणावाद मानने म यह बाधा है कि गगा तीर विषय है और शत्य पावनत्वादि फल हैं। अत इन दोनो की समकालीन उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। इसी स प्रयोजन विशिष्ट लक्षणावाद का सिद्धा त याय शास्त्र क अनुकूल न होन से मा य नही हो सकता है।

मीमांसकों की ज्ञातता—मीमासको की ज्ञातता नयायिको क अनु यव साय से भिन्नता रखती है। मीमासक अनु यवसाय के स्थान पर ज्ञातता नामक धम को मानते हैं। 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' है। इसके अनुसार यह 'घट' है। इस ज्ञान स घट म 'ज्ञातता नामक एक धम उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् 'यह घट है इस प्रकार का ज्ञान होने क बाद मेरे द्वारा घट जान लिया गया' इस प्रतीति मे घट म रहने वाला ज्ञातता नामक धम भासता है। यह धम ज्ञान से पहिले घट म नही था। ज्ञान के बाद होने से ज्ञान से उत्पन्न माना जाता है। अथात ज्ञान कारण है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञातता म पूवा

---

१ तकभाषा, प्रामाण्यवाद पृ० १३६–१४२

पर सम्ब ध होने से तथा ज्ञान से नातता उत्पन्न होने से इन दोनों म कारण काय भाव सम्बन्ध हुआ। इस प्रकार इन मीमामक मत से भी विषय और फल में अन्तर होता है। इसी आधार पर मम्मट ने कहा है कि 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य फलमन्यदुदाहृतम्' अर्थात् ज्ञान का विषय और फल दोनों अलग अलग कहे गये हैं। 'गगाया घोष' म लक्षणा का विषय गगा तट है और लक्षणा का फल शैत्य पावनत्वादि धम विशेष है। और इन दोनो म पूर्वापर सम्बन्ध है क्योंकि पहले तट का बाद म शैत्य पावनत्वादि का ज्ञान होता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि दोनो म भिन्नता है। अत यह निश्चित हुआ कि प्रयोजन विशिष्ट लक्षणावाद म तट रूप विषय और शैत्यादि रूप फल की एक साथ उत्पत्ति न होने से दोनो का एक साथ प्रयोग समीचीन नही होगा, और यह सिद्धान्त अमान्य ठहरता है। तथा फलस्वरूप शैत्य पावनत्व के बोध के लिये तो व्यञ्जना नामक एक अलग शक्ति माननी ही पडेगी। अत लक्षणा द्वारा व्यग्य बोध का निराकरण करते हुये व्यञ्जना की इस प्रकार की स्थापना मम्मट ने द्वितीय उल्लास म की है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि लक्षित अर्थ में विशेष हो सकता है। अर्थात पहिले लक्षणा से उसके विषय केवल तट की उपस्थिति होती है और बाद मे उस प्रयोजन रूप फल को बताने के लिये लक्षणा मूला व्यञ्जना से उस तट रूप लक्ष्यार्थ म शैत्य पावनत्वादि का बोध हो सकता है।[1]

अत लक्ष्यार्थभूत तटादि म प्रयोजन रूप जिस शैत्य पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति होती है उसका ज्ञान अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से न होकर व्यञ्जना नामक एक भिन्न व्यापार से ही हो सकता है और इसे ही व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतन आदि नामों से वाच्य माना जाता है।

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थकों ने ध्वनि विरोधी सभी मतों का निराकरण करने के लिये प्रबलतम तर्कों को उपस्थित किया है और अन्य सभी सम्प्रदायों की मान्यताओं को ध्वनि की परिधि म लाकर ध्वनि और व्यञ्जना की व्यापकता और सार्वभौमता की सिद्धि अकाट्य रूप म कर दी गई है

---

१ विशिष्टे लक्षणानैव, विशेषास्यन्तु लक्षिते।
का० प्र० २/१८ पृष्ठ ७६

इन्होने निम्नलिखित ध्वनि विरोधी सम्प्रदायों का खण्डन किया है—
क—अभिधावादी

१ मीमांसक

(i) कुमारिल भट्ट—अभिहितान्वयवादी—तात्पर्यवादी
(ii) प्रभाकर भट्ट—अन्विताभिधावादी—अभिधावादी
(iii) भट्ट लोल्लट—दीर्घ दीर्घतर अभिधाव्यापारवादी
(iv) मुकुल भट्ट—अभिधावृत्तिमातृकावादी
(v) निमित्त, नैमित्तिकानुसार अभिधा से व्यंजना मानने वाले

ख—साहित्यिकों की अभिधा मे व्यजना का अन्तर्भाव

(i) कुन्तक—वक्रोक्ति

ग—वेदान्ती मत—अखण्डतावादी

घ—वैयाकरण मत

ङ—नैयायिक मत—महिम भट्ट का अनुमान
स्मृति की प्रक्रिया

च—धनञ्जय और धनिक का मत—

और अन्ततोगत्वा ध्वनि सिद्धान्त की जड इतनी मजबूत कर दी गई है कि कोई भी विरोधी पक्ष तदुपरान्त इसके विरोध का साहस नहीं कर सका। इस सम्प्रदाय की सबसे बडी विजय यही है कि यह प्रमुख सिद्धान्त सिद्ध हुआ और अन्य सम्प्रदाय इसके अंग रूप मे मान्य हुए

ग्रन्थो एवं लेखकों की सूची

१ अग्नि पुराण
२ अभिनव गुप्त
३ अभिनव भारती
४ आनन्द-वर्धन
५ उपनिषद्
६ उदयन
७ उद्भट
८ उद्योत टीका
९ काव्य प्रकाश
१० काव्यादर्श (दण्डी)
११ काव्यादर्श-सकेत टीका (सोमेश्वर)
१२ काव्यानुशासन (हेमचन्द्र)
१३ काव्यालकार (रुद्रट)
१४ कालिदास
१५ कुमारिल भट्ट
१६ कुवल्यानन्द (अप्पय दीक्षित)
१७ कुन्तक
१८ कोण्ड भट्ट (शक्तिवाद के टीकाकार)
१९ कृष्ण भट्ट (शक्तिवाद के टीकाकार)
२० गदाधर (शक्तिवाद)
२१ गौतम (न्याय सूत्र)
२२ गगानाथ झा
२३ चन्दोरकर
२४ आचार्य जगन्नाथ (रस गगाधर)
२५ जयदेव
२६ जयन्त
२७ जैमिनीय सूत्र भाष्य (शबर स्वामी)
२८ तर्क भाषा
२९ तन्त्र वार्तिक
३० दण्डी
३१ दिनकरीय
३२ धनञ्जय (दश रूपक)
३३ धनिक (अवलोक टीका)
३४ ध्वन्यालोक
३५ ध्वन्यालोक लोचन
३६ नागेश (रस-गगाधर के टीकाकार)
३७ नागेश भट्ट (परम लघु-मजूषा)
३८ नैयायिक
३९ नव्य नैयायिक
४० न्यायरत्नमाला
४१ नाट्य शास्त्र
४२ पतजलि
४३ प्रभाकर भट्ट
४४ प्रदीप टीका नागोजी भट्ट
४५ पाणिनी
४६ पार्थसारथि मिश्र (न्याय रत्न माला)
४७ परम लघु मजूषा
४८ भट्टोजि दीक्षित
४९ भरत
५० भट्ट नायक

इ होने निम्नलिखित ध्वनि विरोधी सम्प्रदायों का खण्डन किया है—
क—अभिधावादी

१ मीमासक

(i) कुमारिल भट्ट—अभिहितान्वयवादी—तात्पर्यवादी
(ii) प्रभाकर भट्ट—अन्विताभिधावादी—अभिधावादी
(iii) भट्ट लोल्लट—दीघ दीघतर अभिधाव्यापारवादी
(iv) मुकुल भट्ट—अभिधावृत्तिमातृकावादी
(v) निमित्त नमित्तिकानुसार अभिधा से व्यजना मानने वाले

ख—साहित्यिकों की अभिधा म व्यजना का अन्तर्भाव
(i) कुन्तक—वक्रोक्ति

ग—वेदान्ती मत—अखण्डतावादी

घ—वयाकरण मत

ङ—नयायिक मत—महिम भट्ट का अनुमान
स्मृति की प्रक्रिया

च—धनञ्जय और धनिक का मत—

और अन्ततोगत्वा ध्वनि सिद्धान्त की जड इतनी मजबूत कर दी गई है कि कोई भी विरोधी पक्ष तदुपरान्त इसके विरोध का साहस नहीं कर सका। इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विजय यही है कि यह प्रमुख सिद्धान्त सिद्ध हुआ और अन्य सम्प्रदाय इसके अग रूप म मान्य हुए

ग्रन्थों एव लेखको की सूची

१ अग्नि पुराण
२ अभिनव गुप्त
३ अभिनव भारती
४ आनन्दवधन
५ उपनिषद्
६ उदयन
७ उद्भट
८ उद्योत टीका
९ काव्य प्रकाश
१० काव्यादश (दण्डी)
११ काव्यादश-सकेत टीका (सोमेश्वर)
१२ काव्यसुधासन (हिमचन्द्र)
१३ काव्यालकार (रुद्रट)
१४ कालिदास
१५ कुमारिल भट्ट
१६ कुवलयानन्द (अप्पय दीक्षित)
१७ कुन्तक
१८ कोण्ड भट्ट (शक्तिवाद के टीकाकार)
१९ कृष्ण भट्ट (शक्तिवाद के टीकाकार)
२० गदाधर (शक्तिवाद)
२१ गौतम (न्याय सूत्र)
२२ गगानाथ झा
२३ चन्द्रोरकर
२४ आचाय जगन्नाथ (रस गगाधर)
२५ जयदेव
२६ जयन्त
२७ जमिनीय सूत्र भाष्य (शबर स्वामी)
२८ तक भाषा
२९ तत्र वार्तिक
३० दण्डी
३१ दिनकरीत
३२ धनञ्जय (दश रूपक)
३३ धनिक (अवलोक टीका)
३४ ध्वन्यालोक
३५ ध्वन्यालोक लोचन
३६ नागेश (रस-गगाधर के टीकाकार)
३७ नागेश भट्ट (परम लघु-मञ्जूषा)
३८ नयायिक
३९ नव्य नयायिक
४० न्यायरत्नमाला
४१ नाटय शास्त्र
४२ पतजलि
४३ प्रभाकर भट्ट
४४ प्रदीप टीका नागोजी भट्ट
४५ पाणिनी
४६ पाथसारथि मिश्र (न्याय रत्न माला)
४७ परम लघु मजूषा
४८ भट्टोजि दीक्षित
४९ भरत
५० भट्ट नायक

५१ भट्टोद्भट
५२ आचार्य भट्ट मिश्र
५३ भामह
५४ भोजराज
५५ मम्मट
५६ भेगव
५७ मण्डन मिश्र
५८ आचार्य मङ्गल
५९ मनोरथ कवि
६० मधु सूदनी विवृति (ध्वनि विवेक टीका)
६१ महिम भट्ट (व्यक्ति विवेक)
६२ मयूर कवि
६३ माघ
६४ माधवी टीका (शक्तिवाद की)
६५ मुकुल भट्ट (अभिधावृत्ति मातृका)
६६ मीमांसा सूत्र
६७ मीमांसा
६८ माणिक्यचन्द्र (संकेत टीका)
६९ यास्क (निरुक्त)
७० रत्नेश्वर
७१ रस गंगाधर
७२ राजशेखर
७३ राजानक रुय्यक
७४ रुद्रकोश
७५ रुद्रट (काव्यालंकार)
७६ भट्ट लोल्लट
७७ वक्रोक्तिजीवित
७८ वाग्भट्ट
७९ वाग्भट्ट (द्वितीय)
८० वाक्य पदीय
८१ वात्स्यायन
८२ वामन (काव्यालंकार (सूत्र-वृत्ति)
८३ वामनाचार्य झलकीकर
८४ विवेकख्याति (प्रभाकर)
८५ वैशेषिक दर्शन
८६ वेलणकर
८७ वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा
८८ आचार्य विश्वेश्वर
८९ आचार्य विश्वनाथ
९० विद्यानाथ (प्रताप रुद्रीय)
९१ वृत्ति-वार्तिक
९२ वेदान्त दर्शन
९३ शंकुक
९४ शक्तिवाद
९५ शबर स्वामी
९६ शब्द-व्यापार
९७ श्लोक-वार्तिक (कुमारिल)
९८ श्रीधर
९९ संकेत-टीका
१०० डा० सत्यव्रत सिंह
१०१ सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका
१०२ सरस्वती कण्ठाभरण
१०३ साहित्य चूडामणि
१०४ साहित्य-दर्पण
१०५ सिद्धान्त मुक्तावली
१०६ सालिकनाथ (ऋजु विमला टीका)
१०७ डा० हरिदत्त
१०८ क्षेमेन्द्र
१०९ ड्राइडेन
११० बेन जानसन
१११ पीटर्सन ६
११२ भोला शंकर व्यास